

वर्ष ४४] * * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ २०२७, मई १९७०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ९.०० विदेशमें १३.३५ (१५ शिलिंग)

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

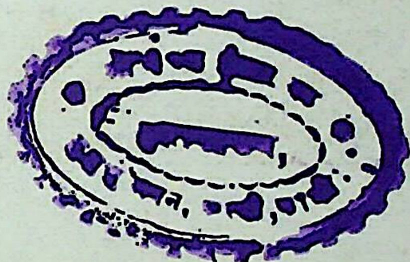
साधारण प्रति भारतमें ५० पैसे विदेशमें ८० पै० (१० पेंस)

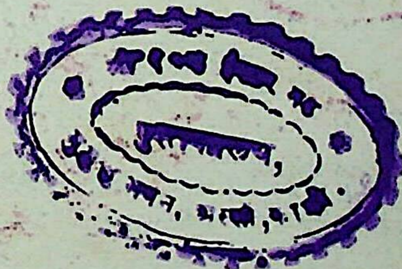
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



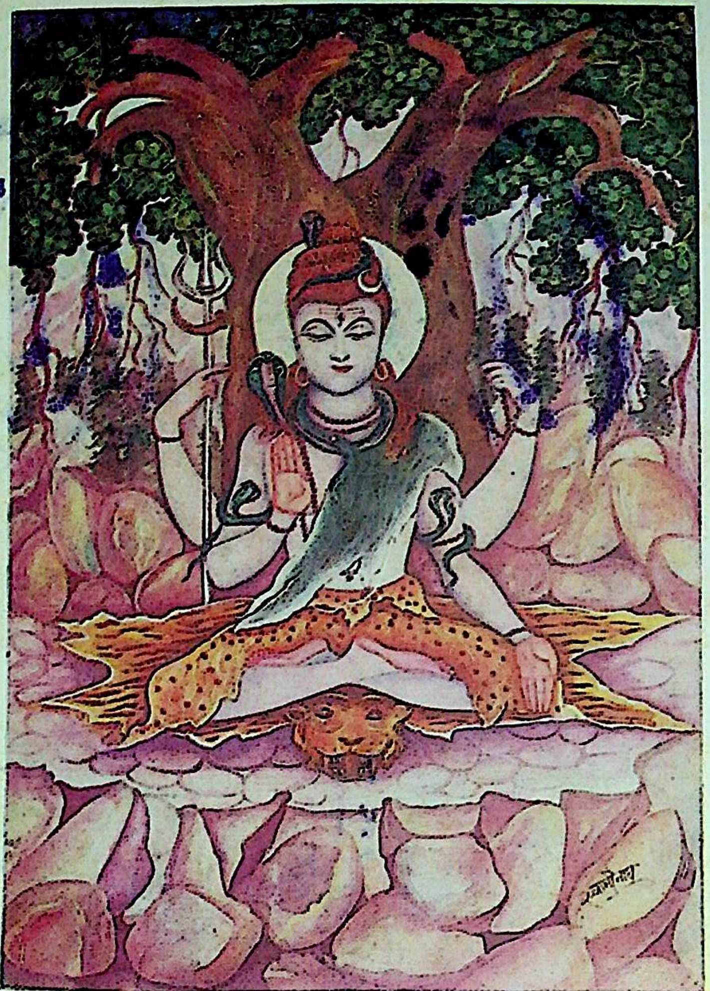

पुस्तकालय,







भगवान् गणेश



भगवान् श्रीशंकर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

देवादिदेव भगवन् कामपाल नमोऽस्तु ते । नमोऽनन्ताय शेषाय साक्षाद् रामाय ते नमः ॥
नमः श्रीकृष्णचन्द्राय परिपूर्णतमाय च । असंख्याण्डाधिपतये गोलोकपतये नमः ॥

वर्ष ४४ | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ २०२७, मई १९७० | संख्या ५ पूर्ण संख्या ५२२

भगवान् गणेश और भगवान् श्रीशंकरकी जय-जय

एकदन्त गजवदन चतुर्भुज गणनायक विघ्नेश।
जय-जय भव-भय-हर लम्बोदर मङ्गलमय देवेश॥
अहि-शशि-जटामुकुटधर शंकर गङ्गाधर भगवान्।
जय-जय बाघ-भालुचर्माम्बरधर विश्वेश महान्॥



कल्याण

याद रक्खो—मानव वास्तवमें वही है, जिसने मानव-जीवनके वास्तविक एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कारकी ओर चलना शुरू कर दिया है और जो जागतिक राग-द्वेषसे बचकर सावधानीके साथ सीधा आगे बढ़ रहा है। जो मानव ऐसा नहीं है, भोगासक्त है; इन्द्रियोंके विषयोंकी तथा जागतिक पद-अधिकार, धन-ऐश्वर्य, मान-सम्मान आदिकी प्राप्तिको ही जीवनका उद्देश्य मानता है और इन्हींकी प्राप्तिके साधनमें लगा हुआ दिन-रात अशान्ति, चित्त-विभ्रान्तिका अनुभव करता रहता है; वह वास्तवमें मानव नहीं है; मानव-रूपमें विचरण करनेवाला पशु आदि प्राणी है और जो दिन-रात भोगोंकी प्राप्ति, संरक्षण-संवर्धनके लिये घोर आसुर तथा राक्षस-भावको ग्रहण करके वैर-हिंसा, चोरी-डकैती, असत्यभाषण-व्यवहार, अभिमान-अहंकार, दूसरोंके अपमान-अपवाद तथा स्वत्वापहरणमें लगा हुआ राक्षसी लूटपाट, मार-काट, विध्वंस-विनाश आदिमें प्रवृत्त है, वह मानव-शरीरमें प्राप्त सत्-साधनोंका दुरुपयोग करके मृत्युके अन्तिम क्षणतक सहस्र-सहस्र दुश्चिन्ताओंसे घिरा हुआ दुःखपूर्वक मरता है और मरनेके पश्चात् बार-बार घोर आसुरी योनियों तथा भीषण नरक-यन्त्रणाओंको प्राप्त होता है।

याद रक्खो—मानव-जीवनका एक-एक क्षण मूल्यवान् है और वह है—भगवत्सेवा तथा भगवत्स्मृतिके लिये। इस बातको भूलकर जो मानव उपर्युक्त पशु तथा असुर-राक्षस-पिशाच-जीवनमें आयु बिताता है, वह घोर मूर्ख है और वास्तवमें अपने ही हाथों अपने लिये भीषण नरकगर्त खोदकर उसमें गिरता है।

याद रक्खो—प्रत्येक श्वास जीवनको मृत्युकी ओर ले जा रहा है। निश्चित होनेपर भी पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय। इसलिये तनिक भी विलम्ब न करके वास्तविक मानव बनकर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलना शुरू कर देना चाहिये। इसीसे अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने 'सर्वकालमें भगवत्स्मरण'के लिये (सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर) आज्ञा दी थी। भगवत्प्राप्तिके मार्गपर चलना आरम्भ हो गया तब समझा जाय, जब जीवनमें भगवदनुकूल विचार, चिन्तन, संकल्प, कार्य, व्यवहार, आचरण आदि होने लगें। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अलिप्सा, प्रेम, दया, त्याग, तितिक्षा, सेवा, सौहार्द, संयम, सदाचार, भोगोंमें वैराग्य, भगवच्चरणोंमें अनुराग, जागतिक प्राणी-पदार्थ-परिस्थितियोंमें ममता-आसक्तिका अभाव, सत्संगमें प्रीति तथा भगवत्स्मरणमें तीव्र प्रवृत्ति, भजनमें अनन्यता, अन्तःकरणकी निर्मलता—सौम्यता, संशुद्धि तथा भोगजगत्की विस्मृतिपूर्वक भगवान्की अखण्ड स्मृति आदि दैवी गुणोंका उदय तथा उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक संवर्धन होने लगे।

याद रक्खो—भगवत्प्राप्त या भगवत्प्राप्तिका साधक ही यथार्थ मानव है और उससे सहज ही प्राणिमात्रका नित्य-निरन्तर कल्याण तथा हितसाधन होता रहता है। उसका वह दिव्य अध्यात्म-जीवन अंदरसे भगवत्संयुक्त है और बाहरसे चराचर प्राणी-रूप भगवान्की मङ्गलमयी सेवासे संयुक्त। उसके द्वारा सभीको सहज ही अभय, आश्वासन तथा कल्याण प्राप्त होता रहता है।

याद रक्खो—मानवजगत्का तो वह सर्वथा कल्याणमय दिव्य आधार ही होता है। वह प्राणीमात्रका सहज सुहृद् होता है, उसका प्रत्येक कार्य स्वाभाविक ही मानवके दुःखनाश, विपत्तिहरण, मङ्गलकी प्राप्ति, परमहित-साधन और परम दिव्य सुखप्राप्तिका कारण होता है। वह अन्धकारमय जगत्में प्रकाशपुञ्ज होता है, डूबनेवालोंको बचानेके लिये सुदृढ़ जहाज होता है और

भयसे रक्षा करनेके लिये स्वयं अभयरूप होता है। वह स्वयं परम शान्ति तथा परम दिव्य नित्य आनन्दका स्वरूप एवं उनका वितरण करनेवाला होता है।

याद रक्खो—ऐसे ही मानवको आदर्श मानकर जीवन-निर्माण करनेवाला मानव मानव-जीवनमें यथार्थ प्रगति करता है, वही विकासको प्राप्त होता है। जो ऐसा न करके भोगासक्त राजसी, तामसी, पशु-असुर-स्वभाव मनुष्योंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करते हैं, वे लूटपाट, मारकाट, हत्या-हिंसा, चोरी-डकैती, अनाचार-व्यभिचार, भ्रष्टाचार-असुराचार आदिमें प्रवृत्त रहकर स्वयं यहाँ दुःख भोगते तथा मृत्युके बाद भीषण नरकयन्त्रणा और आसुरी योनिरूप अधोगति तथा विनाशको प्राप्त होते हैं एवं अपने दुष्कर्मोंके द्वारा जगत्के प्राणियोंमें असद्विचार, आसुरभाव, अशान्ति तथा पापका वितरण करते हुए उनके जीवनकी दुर्गतिमें कारण बननेका पाप करते हैं!

'शिव'

ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[संकलित]

महात्माओंका महत्त्व-प्रभाव

महात्माकी प्रत्येक क्रिया सहज ही संसारके हितके लिये ही होती है, उनके अपने लिये नहीं। उनकी प्रत्येक क्रियामें अमूल्य शिक्षा भरी हुई होती है। श्रद्धालु पुरुष ही उनकी प्रत्येक क्रियाको समझते हैं, अश्रद्धालु नहीं समझ सकते। महात्मा जीवित रहकर तो जगत्का कल्याण करते ही हैं, शरीर छोड़नेके बाद भी करते ही रहते हैं।

आज राजा युधिष्ठिर नहीं हैं, किंतु उनकी जीवनीसे कितना लाभ जगत्को हो रहा है। उन्होंने जो उपदेश दिये, वे आज भी वर्तमान हैं; उनके गुण भी वर्तमान हैं। उनमें बड़ी क्षमा थी। जब द्रौपदीके केश खींचे जा रहे थे, तब भी वे चुप रहे। भीमसेन संकेतकी प्रतीक्षामें उनकी ओर देखते रह गये। संकेत मिले तो वे सबको पीस डालें; किंतु उनका नाम 'धर्मराज' था, उन्होंने विपत्तिकालमें भी धर्मका त्याग नहीं किया। (भगवान्ने द्रौपदीकी रक्षा की।) जबतक संसार रहेगा, तबतक उनके गुण जीवित रहेंगे। जबतक सूर्य-चन्द्र हैं, तबतक उनके चरित्र विद्यमान हैं और उनसे संसारको लाभ होता रहेगा।

महात्मा पुरुषोंका नाम, चरित्र, व्यवहार—जो कुछ भी है, सब जगत्के हितके लिये ही है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३ । १८)

वे जो कुछ करते हैं, दुनियाके हितके लिये ही करते हैं। वे साक्षात् वेदकी मूर्ति हैं। वे चलते-फिरते शास्त्र हैं। शास्त्रोंमें तो फिर भी दृष्टि-दोषसे दोष आ सकता है, पर उन महात्मा पुरुषोंमें नहीं आ सकता।

महात्माओंकी उपासनाका स्वरूप

महात्माको जाननेका अर्थ है—उनके गुण, चरित्र एवं प्रभावको जानना। उनके आचरणोंका अनुकरण करना—यही उनकी उपासना है; उनकी पूजा करना उपासना नहीं है।

जहाँ महात्माका व्यवहार दूसरा हो और उनकी आज्ञा दूसरी हो वहाँ उनकी आज्ञाके अनुसार करो। वहाँ उनकी वाणी बलवान् है, उनकी आज्ञाके

सामने उनका आचरण बलवान् नहीं है। यदि ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय तो वहाँ भक्तको चाहिये कि वह महात्मासे पूछ ले—'आप ऐसी आज्ञा करते हैं और आपका आचरण यह है'। वहाँ महात्मा कह देंगे कि 'हमारी आज्ञाके अनुसार करो।' तैत्तिरीयोपनिषद्में यह बात आयी है। वहाँ गुरु कहता है—'मेरी आज्ञाके अनुसार करो, आचरणके अनुसार नहीं।'

कठपुतलीकी तरह उनकी इच्छाके अनुसार नाचे, उनकी इच्छाके अनुसार ही चले। इच्छा समझमें नहीं आये तो उनके संकेतके अनुसार चले। जो कोई महात्माके प्रति इस प्रकार बरतता है, वह उनका उपासक है।

आज्ञाका पालन तो भयसे पैसे लेनेवाला नौकर भी करता है। जो भक्त महात्माकी आज्ञाका पालन करता है, उसकी संज्ञा 'भृत्य'के समान है। जो प्रसन्नतापूर्वक आज्ञाका पालन करता है, वह अच्छे नौकरके समान है। जो संकेतसे करे, वह अच्छे-से-अच्छे नौकरकी तरह है और यदि वह इच्छाके अनुसार करे तो बात ही क्या है ? महात्माओंकी इस प्रकार आज्ञाका पालन—इच्छाके अनुसार बरतना ही उनकी वास्तविक उपासना है।

महात्माओंके प्रति श्रद्धाका स्वरूप एवं उसका फल

महात्माओंकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो हमें सुननेको भी नहीं मिलतीं। जो सुननेको मिलती हैं, उन्हें हम समझ नहीं पाते। जितनी समझ पाते हैं, उन्हें काममें नहीं लाते। महात्माओंके मनके अनुसार चलनेवाले बहुत कम हैं। इशारेके अनुसार चलनेवाला शायद मिल सकता है, पर उसको भी पहचानना कठिन है। आज्ञाके माफिक चलनेवालोंमें भी फर्क है। एक रोकर चलता है, एक हँसकर चलता है। महात्मा पुरुषोंकी सभी बातोंमें महत्त्व रहता है। चाहे वह आदेश, आज्ञा, अनुरोध—कुछ भी हो। उनके बर्ताव, बोल-चाल एवं व्यवहार—सभीमें ऐसी ही बात है। जहाँ वास्तवमें श्रद्धा होती है, वहाँ संसारके पदार्थ, रुपये आदिकी तो बात ही क्या, श्रद्धेयकी आज्ञाके आगे अपने शरीरकी, जीवनकी भी परवा नहीं रहती।

श्रद्धासे जो आज्ञा-पालन होता है, वह बहुत उच्चकोटिका होता है। मनके प्रतिकूल जो कार्य होता है, उसके पालनमें कितना आनन्द होता है, इसे श्रद्धालु पुरुष ही जानता है। मनके अनुकूल तो शत्रुकी या बालककी भी आज्ञाका पालन किया जा सकता है। 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग तो वहीं होता है, जहाँ मनके प्रतिकूल हो। प्रतिकूलताके आचरणमें जितनी अधिक प्रसन्नता, आनन्द हम मानते हैं, उतना ही हम परमात्माके निकट पहुँच जाते हैं।

श्रद्धा ऐसी ही चीज है कि उससे श्रद्धेयका क्या ध्येय है, वह आप ही समझमें आ जाता है। संकेतकी भी जरूरत नहीं रहती।

महात्माके वचनोंमें उच्चकोटिकी श्रद्धा नहीं हो तो कर्तव्य या नीति समझकर उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। यह भी समझमें नहीं आये, तो भयसे ही पालन करना चाहिये। सब प्रकारसे ही कल्याण है। आज्ञाकी बात तो दूर रही, महात्माके यहाँ जानेसे ही वह कल्याणका अधिकारी हो जाता है।

जैसे चुल्लूमें समुद्र नहीं समाता, वैसे ही महात्माके द्वारा होनेवाला कल्याण बुद्धिमें नहीं समाता। वैसे श्रद्धालुकी श्रद्धापर भी कल्याण निर्भर है। यदि वह माने कि 'दर्शनसे ही कल्याण हो जायगा' तो अवश्य हो जायगा। यदि वह माने कि 'महात्माके स्मरणसे ही कल्याण हो जायगा', तो भी हो जायगा और उसकी यदि यह मान्यता हो कि 'महात्माके नामका स्मरण

करनेवाला सारे संसारका कल्याण कर सकता है' तो वह भी हो जायगा।

× × ×

महात्माका हृदय गङ्गासे बढ़कर है। उन्होंने हमारी स्मृति कर ली तो पावन सुरसरिमें हमारा स्नान हो गया। यदि हमने उनका स्मरण कर लिया तो हमारा अन्तः-करण पवित्र हो गया। इसी प्रकार महात्माकी दृष्टि हमारे ऊपर पड़ी तब भी, अथवा हमने महात्माके दर्शन किये तब भी हम पवित्र हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें एक बात और भी है। वह थोड़ी गुप्त बात है। इसमें तर्क नहीं चलता, नीति नहीं चलती। यह बात छिपायी जाती है, जिससे लोग अनुचित लाभ नहीं उठाने लगें। जिस प्रकार गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको—

'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।'

—का उपदेश देकर कहा—'अर्जुन! यह तुमको 'सर्वगुह्यतम' बात बतायी है। इसको भक्तिहीनके प्रति, तपहीनके प्रति मत कहना। जो मेरी निन्दा करते हैं उनको भी मत कहना।' भगवान् मना क्यों करते हैं? इसीलिये कि इससे हानि हो सकती है। इसी प्रकार उच्चकोटिके महात्मा अपना तत्त्व-रहस्य सबके सामने नहीं कहते। किसीको कुछ बता भी देते हैं तो कह देते हैं कि यह सबके लिये नहीं है, प्रकट मत करना। जिस प्रकार कोई धनी आदमी भी सबको अपना तलपट नहीं बताता, इसी प्रकार महात्मा भी अपने-आपको छिपाते हैं। अतएव इस सम्बन्धमें युक्तिसंगत एवं शास्त्र-सम्मत बात यही है कि जो महात्माओंको जान लेता है—उसका तो कल्याण हो ही जाता है; किंतु जो जितना जानता है, जिसकी जितनी श्रद्धा होती है, उतने ही लाभका वह अनुभव कर पाता है।

× × ×

जिसकी महात्मापर श्रद्धा होती है, उसके मनमें कोई शङ्का, भय, चिन्ता नहीं रहती। न कुछ जानना शेष रहता है, न कोई कर्तव्य ही। सब समाप्त हो जाते हैं। यदि उसे यह भी जाननेकी इच्छा है कि 'मुझे जल्दी परमात्मा मिल जाय' तो उसको वास्तवमें महात्मा नहीं मिले। उसके मनमें कोई भी प्रश्न नहीं रहता। यदि रहता है तो वह महात्माकी बुद्धिके भरोसे नहीं है। वह पूछता है तो महात्मा उत्तर दे देते हैं, अन्यथा कोई चिन्ता, भय, आकाङ्क्षा उसके मनमें रहनी ही नहीं चाहिये। तथाकथित महात्मा यदि सच्चा महात्मा नहीं है तो भी श्रद्धाके कारण उसके दर्शन, ध्यानसे कल्याण हो जाता है, फिर यदि साक्षात् महात्मा मिल जाय, तब तो कहना ही क्या है। हमें तो उस महात्माके ही इशारेपर चलना है; हमारे उद्धारकी तो कोई बात ही नहीं, चिन्ता ही नहीं। यदि वह महात्मा चाहता है कि हम नरकमें जायँ तो वह नरक हमारे लिये हजारों मुक्तिसे बढ़कर है!

पूर्वकालमें बहुत-से महात्मा हो गये हैं, जिनके नाम हमें मिलते हैं। उन पुरुषोंके नाम-उच्चारणसे भी हमारा कल्याण हो सकता है। यह बात मेरे कहनेसे ही माननेकी नहीं, युक्तिसंगत भी है। मनुष्य जिसका नाम लेता है, उसके स्वरूप, गुण, आचरण, प्रभावका भी स्मरण नाम लेनेपर हो जाता है। जिस प्रकार किसी स्त्रीके रूप-लावण्य-सौन्दर्यकी बात हमने सुन रक्खी है तो उसके नामके याद आते ही उसके हाव-भाव-कटाक्ष सामने आ जाते हैं। कामतक जाग्रत् हो जाता है। जब एक सामान्य स्त्रीको याद करनेसे यह दशा होती है, तब महात्माओंको याद करनेसे उनके भी भाव, स्वरूप, गुण मनमें आयेंगे ही। शुकदेवजीका नाम लेते ही उनका स्वरूप हमारे सामने खड़ा हो जायगा। उसका हमपर असर भी पड़ेगा और हम शुकदेव बननेकी इच्छा करने लगते हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

वीतरागविषयं वा चित्तम् । (योगसमाधि० ३७)

यथाभिमतध्यानाद् वा । (योग० समाधि० ३९)

'वीतराग पुरुषका ध्यान करनेसे, जिसको अभिमत हो, उसका ध्यान करनेसे हमारा कल्याण हो सकता है।'

बहुत उच्च श्रेणीके पुरुष महात्माके स्मरणमें महान् आनन्द और महात्माकी दया मानते हैं। मिलना हो जाय तो फिर कहना ही क्या। बातचीत हो जाय, संकेत हो जाय, इशारा हो जाय तब तो उसके आनन्दका ठिकाना ही नहीं। यदि आज्ञा हो जाय तब तो वह परम सौभाग्य मानता है, उद्धारकी तो बात ही नहीं करता वह। यही श्रद्धाकी बात है।

महात्माओंके संगका प्रभाव

बर्फके ढेलेको कहा जाय—'तुम जल बन जाओ।' उसके लिये जल बन जाना स्वाभाविक, सहज एवं युक्तिसंगत है। यदि उससे कहा जाय—'तुम पुष्प बन जाओ, माणिक बन जाओ'—तो यह नहीं हो सकता।

इसी प्रकार मनुष्यको कहा जाय—'तुम महात्मा बन जाओ।' तो यह भी उतनी ही स्वाभाविक, सहज एवं युक्तिसंगत बात है, जितनी बर्फके ढेलेके लिये जल बन जाना। भगवान् जीवको यह अधिकार देकर ही मनुष्य बनाते हैं।

प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि बर्फका ढेला जल्दी-से-जल्दी जल कैसे बने ? एक उपाय तो यह है कि बर्फके ढेलेको जलमें डाल दिया जाय अथवा जलको ही बर्फके ढेलेपर ढाल दिया जाय। दोनों ही स्थितिमें ढेला गलकर जल्दी जल बन जायगा। यह ज्ञानका सिद्धान्त है।

इसी प्रकार यदि हम महात्मा बनना चाहें तो महात्माओंके सङ्गसे हम महात्मा बन सकते हैं। सङ्गके अनेक भेद हो सकते हैं—महात्माओंके दर्शनसे, भाषणसे, उनके स्वरूपके चिन्तनसे अथवा लीलाके चिन्तनसे भी हम महात्मा बन सकते हैं। अथवा महात्मा पुरुष यदि हमारा चिन्तन करें, दर्शन करें तो भी हम महात्मा बन सकते हैं।

जिस प्रकार घासमें अग्निकी चिनगारी पड़े तो वह उसको जलाकर अग्नि ही बना देती है अथवा घास अग्निमें आकर पड़े तो वह अग्नि ही बन जाता है। इसी प्रकार महात्माके द्वारा जो वस्तु देखी जाती है, उसमें उसके परमाणु प्रविष्ट हो जाते हैं। महात्माकी दृष्टिमात्रसे वह वस्तु उनके रंगमें रँग उठती है। अतएव अज्ञानी भी यदि महात्माका संग करें तो वे भी ज्ञानी बन जाते हैं।

असली चीज तो अपना काम करेगी ही। इसमें तनिक भी शङ्काकी बात नहीं है। इस रहस्यको भी वास्तवमें महात्मा ही जानते हैं। जितने अंशमें दूसरे जान पाते हैं, वे भी उतने अंशमें महात्मा ही हो जाते हैं।

संतके स्मरण-मिलन-सेवनसे निश्चित कल्याण

नहीं जरा भी जिनमें ममता-राग-द्वेष-अस्मिता-मान।
जिनमें भरे सरलता-संयम-सर्वभूतहितरति अम्लान॥
जिनमें क्षमा-दया-शम-दम सब दैवीगुण शुचि आत्मज्ञान।
ऐसे संतस्मरण-मिलन-सेवनसे होता ध्रुव कल्याण॥

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

प्रतिकूलताकी अनुभूति हमारा भ्रममात्र है

जब सर्वत्र प्रभुका ही सच्चिदानन्दमय विलास निरन्तर चल रहा है, उनकी सच्चिन्मयी लीलाके अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है, तब हमें प्रतिकूलताकी अनुभूति क्यों होनी चाहिये ? क्या अनन्त दयामय प्रभुमें इतना विवेक नहीं है कि वे हमारे लिये, अपने शिशुके लिये कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देंगे, जो परिणाममें सुखद न हो ? माँके द्वारा अपने बच्चोंके लिये कोई ऐसी चेष्टा होती है क्या, जो उन्हें दुःखमें डालनेवाली हो ? माँ तो भूल कर भी सकती है; क्योंकि वह सर्वत्र अवस्थित नहीं है, वह सर्वशक्ति-समन्विता नहीं है, उसमें सम्पूर्ण सर्वज्ञताका विकास नहीं हुआ है और अहैतुक सौहार्दमय, सम्पूर्ण विश्वके लिये निरन्तर लहरानेवाला सागर भी वह नहीं बन सकी है; किंतु प्रभुमें तो ये चारों बातें निरन्तर वर्तमान हैं। वे हमारे लिये प्रतिकूल परिस्थिति क्यों उत्पन्न करेंगे ? प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न करके हमें दुखी क्यों करेंगे ? सचमुच, सचमुच—यह हमारा भ्रम ही है।

वास्तवमें कोई भी प्रतिकूल लगनेवाली परिस्थिति सचमुचमें हमारे लिये अनन्त अपरिसीम सुखका द्वार खोलनेके लिये निर्मित हुई है। उसके कण-कणमें ही आत्यन्तिक अनुकूलता है। आस्तिकताके अभावके कारण ही हम उस अनुकूलताको देख नहीं पाते हैं। कदाचित् हम यह दृष्टि अपना सकें अर्थात् लीलामय प्रभुके चिद्विलासकी सत्ता हमारे मनमें स्थान पा सके, तो फिर हम प्रतिकूलताकी भावनाको सहज ही जीत सकते हैं।

× × ×

हम यही भाव जीवनमें लानेकी चेष्टा करें, हमारी ऐसी भावना बने कि 'प्रभु ! अनन्त विपत्तियोंके जालसे तू मुझे भले ही बाँध ले, पर अब मुझे ऊपर उठा ले। मुझे अपने अङ्कमें ले ले।' सचमुच, अगर भीतरी मनसे हम प्रभुके सामने ऐसा प्रस्ताव रख सकें तो देखेंगे कि प्रतिकूलताके बादल हटने लगेंगे; क्योंकि वास्तवमें प्रतिकूलताकी अनुभूति तो हमारा भ्रममात्र है। भ्रम कोई वस्तु नहीं होता। जैसे अन्धकार है, वैसे ही भ्रम है। आलोकके अभावका ही अर्थ है—अन्धकार—भ्रम। उषाकी लालिमा जैसे घोर रात्रिके अन्धकारको आत्मसात् करने लगती है, वैसे ही प्रतिकूलताका हमारा भ्रम प्रभुके आलोकसे क्षीण-क्षीणतर होने लगेगा और दीखने लगेगा कि अरे, जिसे हम प्रतिकूलता समझ रहे थे, वह तो कोई वस्तु ही नहीं है। आजतक किसीके लिये भी, क्षणभरके लिये भी प्रभुके परम मङ्गलमय विधानमें अनादिकालसे कोई भी प्रतिकूलताकी परिस्थिति सृष्ट न हुई है और न अनन्तकालतक सृष्ट होगी। चाहे तो हम भी विश्वास करके सुखी हो सकते हैं।

भय मनकी कल्पना है

हम सोचकर देखें—हमें भय क्यों होना चाहिये ? जब सब जगह अनन्त शक्तिसम्पन्न, सब कुछ जाननेवाले, हमारे प्रति अनन्त सौहार्दमय प्रभु ही नित्य-निरन्तर अवस्थित हैं, तो किस प्राणी-पदार्थसे हम भय करें ? खूब गहराईसे सोचें, भय एक झूठमूठ अनादिकालसे कल्पित मनकी कल्पना है। हमें मामूली-से-मामूली बातमें भय होने लगता है; न जाने कितने प्रकारके भय हमें घेरे हुए हैं। क्यों नहीं हम प्रत्येक प्रतिकूल लगनेवाली परिस्थितिमें अपनी आँख प्रभुकी ओर कर लेते और निरन्तर पासमें रहने-

वाले; सर्वशक्तिमय, सब कुछ जाननेवाले, अनन्त, अपरिसीम सौन्दर्यमय प्रभुपर ही सब प्रकारके भयको पूजाके रूपमें सदाके लिये समर्पित कर देते ? हम सब स्थितियोंमें सोचने लग जायँ—'जैसी प्रभुकी इच्छा होगी, हो जायगा । इसमें डरनेकी क्या बात है ?'—सच मानें, भयकी सम्पूर्ण स्थितियाँ बदलने लगेंगी और हमारा मन सच्चिन्मय आनन्दसे भरने लगेगा ।

क्रोधसे अपना और दूसरोंका अनिष्ट ही होता है

क्रोधको भी हम जीतें । क्रोध अपनेसे कमजोरपर आता है । हमारा रोष निकलेगा बच्चोंपर, नौकरोंपर तथा जिनसे हमें हानिकी सम्भावना नहीं है, उनपर । किंतु जिसके निमित्तसे क्रोध निकला हो; उसकी उस बुराईको तो वह दूर करनेसे रहा, उलटे वह बुराई एक बार दबकर अन्तश्चेतनामें वापस जाकर गहरी बन जायगी । अतएव क्रोधसे अपना और दूसरेका अनिष्ट ही होता है ।

सोचें, क्या हमने सबके मङ्गलका ठेका ले रक्खा है और हमारे क्रोध करनेसे ही उसका मङ्गल हो जायगा ? उसकी बुराई मिट जायगी ?—किंतु यह भ्रम है कि मैं डाँट-डपटकर किसीको सुधार दूँगा । अपने बच्चोंपर हम प्यारभरा शासन कर सकते हैं, पर उसमें क्रोधकी गंध भी नहीं आनी चाहिये । हम जान भी नहीं पाते, उन-उन अवसरोंपर उन बच्चोंका, नौकरोंका सुधार तो होता नहीं, उलटे हमारी आस्तिकताकी नींव भूकम्पकी भाँति हिलने लगती है, जो अभी-अभी आगे आनेवाली विपत्तियोंमें हमें और भी खिन्न बना देती है । इस दोषको सर्वथा सर्वांशमें जितना शीघ्र-से-शीघ्र हम कुचल सकें, कुचल डालें । नहीं तो, उपासनाका प्रासाद इस वर्तमान नींवपर निर्मित नहीं हो सकेगा । क्रोधकी गंध भी उस उपासनाके महलकी दीवालोंमें दरार डाल ही देती है । अतएव खूब सावधानीसे व्रत लेकर इस दोषपर हम काबू पावें ।

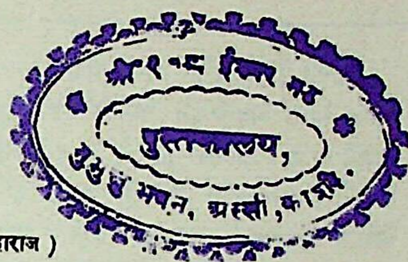
क्रोध रहते दर्शन नहीं

एक जिज्ञासु साधकने महात्माके पास जाकर उनसे पूछा कि 'कोई ऐसा साधन बताइये, जिससे मुझे भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हों ।' महात्माने कहा—'उस घरके एक कोनेमें बिल्कुल शान्तिके साथ बैठकर पूरे एक सालतक भजन करो ।' उसने एक वर्षतक भजन किया । वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माने भंगिनसे कहा कि 'वह साधक जब इधर आने लगे तब उसके पास जाकर धूल झाड़ देना ।' भंगिनने ऐसा ही किया । तब तो वह डंडा लेकर उसे डाँटता-फटकारता हुआ दौड़ा । फिर महात्माके पास जाकर नम्रतासे बोला—'एक वर्ष तो हो गया मुझे दर्शन नहीं हुए ।' महात्माने कहा—'अभी तो तू राक्षसकी तरह मारने दौड़ता है, जा, एक वर्ष मनको पूरा शान्त रखकर भजन कर ।' दूसरा वर्ष पूरा होनेके दिन महात्माने भंगिनको समझाया—'आज उसे झाड़ू छुवा देना ।' उसने वैसा ही किया । इस बार वह मारने तो नहीं दौड़ा, पर क्रोधमें भरकर उसने कहा—'तेरा कैसा नीच स्वभाव है । झाड़ू भी सँभालकर नहीं देती ।' फिर महात्माके पास जानेपर महात्मा बोले—'अब तू मारता तो नहीं, पर अभी सर्पकी तरह फुफकार मारता है, जा, एक वर्ष फिर भजन कर ।' तीसरी बार महात्माने भंगिनसे कहकर उसपर कूड़ेकी टोकरी उड़ेलवा दी । तब वह दीनतासे भंगिनके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला—'मैया ! तूने मेरा बड़ा उपकार किया है ।' फिर वह महात्माके पास पहुँचा । महात्माने प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया और उसकी मनःकामना पूर्ण हुई ।

पागलकी झोली

पेंचोंका खाँचा*

(भूतका पिंजड़ा)



(लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीताराम ओंकारनाथजी महाराज)

राम राम राम राम राम ! पागल लगातार राम राम कर रहा है और बीच-बीचमें नाचने लगता है। इसी समय हलधरने आकर पूछा—"ओ पागल बाबा ! सबेरे-सबेरे इतना 'राम राम' करते हुए क्यों नाच रहे हो !"

पागल—राम राम राम ! मुझे पेंचोंने पा लिया है—(उपदेवता—बालभूत लग गया है) !

हलधर—पेंचों क्या है ?

पागल—अरे भूत, भूत। राम राम, कैसी मार मारी है उसने, मेरी तो यह खेप ही समाप्त कर दी। राम राम राम जय राम सीताराम राम राम !

हलधर—पेंचों (उपदेवता) तो छोटे बच्चोंको लगता है। तुम तो बूढ़े आदमी हो। तुमको वह बालभूत कैसे लग गया ?

पागल—आज नहीं, यह तो वह बहुत समयसे लगा है। राम राम राम !

हलधर—क्या यन्त्रणा होती है ? सभी समय लगा रहता है या किसी-किसी समय लगता है। तुमको कैसे लग गया ?

पागल—सभी समय लगा रहता है। पता नहीं, कैसे लग गया ? पहले मुझे पता ही नहीं लगा कि यह लग रहा है।

हलधर—फिर कैसे पता लगा ?

पागल—कभी 'पैसा-पैसा' चिल्लाता, कभी 'स्त्री-स्त्री' चीत्कार करता, कभी 'पुत्र-पुत्र', कभी 'खाऊँ-खाऊँ,' कभी 'पूजा लूँगा, पूजा लूँगा'—और कभी 'मुझे मान चाहिये', इस प्रकार इसकी चिल्लाहट सुनकर मुझे संदेह हो गया। मैं ओझाजीके घर गया। ओझाका नाम है—पंचानन। उनके पास जाकर सब हाल खोलकर उनको बताया। उन्होंने कहा—'अरे, तुमको तो पेंचोंने पा लिया—(बालभूत लग गया) है।' मैंने पूछा—'अब यह बालभूत मुझे कैसे छोड़ेगा ?' उन्होंने कहा—'राम राम करो।' बस, मैंने भी शुरू कर दिया। ओझा बाबाने यों मन्त्रसे झाड़ दिया—मैं समझ नहीं सका। पर यह बाँझका बेटा पेंचा गया नहीं। राम राम राम।

हलधर—अब तो शायद छोड़कर चला गया है।

पागल—हूँ, राम-नामकी चोटसे बीच-बीचमें यह चुप साध जाता है। मैं समझ लेता हूँ, शायद छोड़कर चला गया है। ओ माँ ! कुछ ही दिन बाद क्या देखता हूँ कि 'खाऊँगा खाऊँगा' कर रहा है, तब मैंने राम रामकी ध्वनि करना प्रारम्भ कर दिया। फिर बहुत दिनोंतक कोई करतूत नहीं दिखायी दी। मैंने समझा, शायद अब चला गया है। हरि हरि ! एक दिन क्या देखता हूँ—बोल रहा है—'मैं सांख्य वेदान्त पातञ्जल पढ़ूँगा।' मैं समझ गया यह उस पेंचों (बालभूत) की ही करतूत है। दो अक्षरोंका तो पता ही नहीं, बेटा शास्त्र पढ़ेगा। मैं जोर-जोरसे 'राम राम' करने लगा। फिर मैंने सोचा कि अब वह वन्ध्यापुत्र मर गया है। ओ हरि ! एक दिन क्या देखता हूँ, कह रहा है—'पूजा कराऊँगा।' मैंने कहा—'अरे बेटा ! अब भी तुम मरे नहीं ?' मैं खूब 'राम राम' करने लगा। बहुत दिनोंतक कोई भी शब्द नहीं सुनायी दिया, तब मैंने सोचा कि अब तो पेंचा (बालभूत) खतम हो गया। अरे बाबा ! यह क्या कभी मरनेवाला बचा है ? एक दिन कहने लगा 'मैं जगत्का उपकार करूँगा। मुझमें समता आ गयी है।' मैंने हँसकर कहाँ—"अरे पाँचूगोपाल ! तुम सोचते होगे कि मैं तुमको पहचान नहीं पाया होऊँगा। ऐसी बात नहीं है। मैं तुमको खूब पहचानता हूँ। जबतक कौपीनकी भी आवश्यकताका बोध रहेगा, तबतक तुम्हारा विश्वास नहीं—तुम क्या करते-करते क्या कर बैठोगे। एक जरासे वासनाके बीजसे प्रकाण्ड संसार-वृक्ष लहलहा उठेगा। आज 'लोकोपकार करूँगा'—कहकर निकलोगे और कल मुख्याति—प्रशंसा सुननेके लिये कान खड़े करते फिरोगे। यह होगा नहीं बाबा !"

* बंगालमें मानते हैं कि छोटे बच्चोंको उपदेवता लग जाते हैं, तब उनके शरीरमें धनुष्टंकारकी बीमारीके लक्षण तथा और बहुत-से उपद्रव होते हैं। उसे 'पेंचोय पावा' कहते हैं।

उसने मुँह भारी कर लिया। मैंने कहा—'गुस्सा न करो। लज्जा, मान, भय—इन तीनोंके रहते कुछ नहीं होता। जानते हो न? अच्छी बात है, तुम्हारे चित्तमें समता आ गयी है? ऐसा हो तो ठीक है; परीक्षा दो। बहुत दिनोंसे लोगोंके मुखसे साधुवाद—अपनी प्रशंसा सुन-सुनकर आनन्दसे फूले नहीं समाते हो! कितनी पूजा ग्रहण करते हो। एक काम करो, पहननेके कपड़े उतारकर फेंक दो। शरीरमें धूल रमाकर नंग-धड़ंग होकर रास्तेमें नाचो। लोग पागल कहें, शरीरपर धूल फेंकें, गालियाँ दें, मारें। देखना, इतने दिनोंकी प्रशंसा और पूजाके समान ही इसमें भी आनन्द मिलता है या नहीं? यदि आनन्दका समान रूपसे बोध हो, तो समझा जायगा कि समता आ गयी है।' पेंचो (बालभूत) मुँह लटकाये बैठा रहा। मैंने कहा—जो गुरुदेवने कहा है कि "इस एक अक्षरको पूरा करो—तब देख पाओगे, सब समान हो गया है। अष्टाङ्गयोगके सात अङ्ग पार करनेपर ही 'निर्विकल्प-समाधि' होती है। छठा चक्र पार हो जानेपर रह जाता है केवल—'सहस्रार'। ज्ञानभूमिमें है केवल—'तुर्यगा'।" बेटेके मुँहसे फिर कोई शब्द नहीं निकला। मैंने समझाकर कहा—'अरे पागल! समता खद्योत (जुगनू) नहीं है। वह है शारदीय चन्द्रमा—उस चाँदके उगनेपर जगत्में प्रकाश छा जायगा। समझो।' अब बेटेने क्या कहा—'यथाप्राप्त व्यवहारके परायण होना होगा।'

मैंने कहा—'वर्षोंसे तुम यथाप्राप्त व्यवहार करते चले आ रहे हो। एक दिन नंग-धड़ंग होकर अपने एक हाथमें विष्ठा और एक हाथमें चन्दनका लेप करो। एक हाथमें नारायणका प्रसाद और एक हाथमें चाण्डालका उच्छिष्ट लेकर देखो, समानताका बोध होता है या नहीं?' अब चुप हो गया। यह वन्ध्यापुत्र एक अङ्क जोड़ना भी नहीं जानता, उत्तर देना सीख रक्खा है। राम राम राम! आह! खूब मन्त्र दे दिया ओझा बाबाने। जैसा भूत उसकी वैसी ही दवा। राम राम राम, चलने दो—राम राम राम।

हलधर—तुमने पेंचाको देखा है?

पागल—देखा नहीं तो क्या है?

हलधर—देखनेमें कैसा लगता है?

पागल—ठीक आदमीकी तरह; तीन हाथ लंबा, आँख-कान, मुँह-नाक सभी हैं। इसके दो और भी साथी दोस्त हैं। जिसको लगते हैं, उसको तीनों पट्ठे साथ मिलकर लगते हैं। हाँ, एक दिन वह बाँझका बेटा क्या कहता है कि 'मैंने विचारके द्वारा जगत्को एकदम उड़ा दिया है।' सुनकर मैंने हाथमें एक छुरी लेकर कहा—'विचारके द्वारा छुरीको उड़ा दो, उसके बाद मैं देखूँगा कि इससे तुम्हारी नाक काटी जा सकती है या नहीं?'

अब बेटा चुप; शिव न होते हुए भी शिवका स्वाँग सजना चाहता है। पता है, एक बार क्या हुआ था? बेटा कहने लगा—मुझे 'असम्प्रज्ञात' समाधि होने लगी है। मैंने कहा—"क्या बोलता है रे? ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीताके भेदसे 'सम्प्रज्ञात समाधि' तीन प्रकारकी होती है। ग्राह्य समाधि—स्थूलको लेकर सवितर्क होती है और सूक्ष्मको लेकर निर्वितर्क। इसी प्रकार 'सविचार' और 'निर्विचार' ग्रहणविषयक समाधिका नाम है—सानन्द। ग्रहीतृविषयक समाधिका नाम है—सास्मित। इन सबके सिद्ध होनेपर परमाणुसे लेकर परम महत्-पर्यन्त ध्यान करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् होती है—'असम्प्रज्ञात समाधि।'" पेंचों (भूतराम) से मैंने पूछा—'बतलाओ, सानन्द समाधिका तुम्हारा क्या अनुभव है? सानन्द समाधिसे सास्मित समाधि कैसे प्राप्त होती है? परमाणु—परम महत्का किस अधिष्ठानमें ध्यान करना होता है?' बेटा पोथी-पत्रा बटोरकर चुप होकर बैठ गया—तब मैंने फिर कहा—'अरे! असम्प्रज्ञात समाधि काकतालीय न्यायकी तरह नहीं होती। सम्प्रज्ञात भूमिकापर सम्पूर्णरूपसे अधिकार हो जानेके पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि होती है। अरे पेंचों! वह तुम्हें असम्प्रज्ञात समाधि नहीं, यह है—"निद्रा, निद्रा।"' बेटा! इस तरह मुझे भोग भुगता रहा है।

हलधर—यह ऐसा क्यों करता है?

पागल—तुम नहीं समझ पा रहे हो। पूजा करवायेगा। पालकीपर चढ़कर, तकियेके सहारे बैठकर, चाँदीके हुक्केमें निष्काम भावसे तम्बाकूका धूआँ खींचते-खींचते अफ्रीकामें हिंदूधर्मका प्रचार करने जानेका क्या अभिप्राय है? इतना ही नहीं, इस बाँझके बेटेमें स्वयंमें तो ढेर-के-ढेर दोष भरे पड़े हैं, उन सबकी ओर तो देखेगा ही नहीं, दूसरोंकी समालोचना करनेके लिये इसके पाँच मुख निकल आते हैं। अपनी प्रशंसा सुननेके लिये दस कान खड़े कर लेता है। यों करके यह बारंबार मुझे जलाता रहता है।

हलधर—मुझे इस (भूत) पेंचोंको दिखला सकते हो ?

पागल—एक इस मोटके बेटेको दिखा सकता हूँ। बाकी दो बेटे नहीं देखे जा सकते। राम राम राम।

हलधर—कब दिखाओगे, चलो।

पागल—राम राम ! (अपने शरीरकी ओर अँगुली करके) यह देखो।

हलधर—अरे ! पागल कहींके—यह तो तुम्हारा शरीर है। यह तो तुम ही हो। यह पेंचों (भूत) कैसे होगा ?

पागल—यही बेटा तो पेंचों है। पाँच महाभूतोंके द्वारा यह पेंचोंका पिंजड़ा बना। यह मैं नहीं हूँ, बाबा ! फिर यह बाँझका बेटा एक ही नहीं है—ये तीन हैं, तीन। मोटा, महीन और कारण।* इन तीन बेटोंके पल्ले पड़नेसे इन सबने मुझे बिल्कुल पागल बना दिया है। 'मैं कौन हूँ' यह भी मुझे याद नहीं है।

हलधर—तो बस, यही तुम्हारा पेंचों (भूत) है ?

पागल—हाँ बाबा, यही 'पेंचों' या 'पेंचोंका पिंजड़ा' है। सुना है—इस भूतके कारोबारका बड़ा विस्तार है। यह जो सामने जगत् देखते हो—यह भी इसी बाँझके बेटेकी सालाकी करतूत है !

हलधर—पागल कहींके, 'बाँझका बेटा, साला'—कहकर गाली-गलौज क्यों कर रहे हो ?

पागल—गाली-गलौज तो नहीं करता। जैसे गोशाला कहना गाली देना नहीं है, वैसे ही बाँझके बेटेके समान जिसका जन्म नहीं होता, वह 'अज्ञान' उसका 'शाला' यानी घर है। पण्डितलोग कहा करते हैं—'अनुत्पन्नस्य अधिष्ठानात्'। साधारणमें कहते हैं—'अज्ञान—आवास'। तो मैं इसे कहता हूँ—'बाँझके बेटेका साला !' यह गाली-गलौज नहीं बाबा, यह तो स्वरूपकथन है।

हलधर—जगत् नहीं है—यह बात कैसी-कैसी अच्छी नहीं लगती। जगत् दीख रहा है, शरीर दीख रहा है—और ये सब कुछ हैं ही नहीं, यह कैसी बात हुई ?

पागल—यही तो मजा है। सुना है, एक खूब बड़े उस्ताद इसके मूलमें हैं। वे बहुत गहरे अगाध जलके मत्स्य हैं। उनका सहज ही पता नहीं चल पाता। और एक है, बेटी उस्तादनी। उसी बेटीकी ही यह सारी कारगुजारी है। उस बेटीकी कृपा न हो तो और कोई उपाय नहीं। उस्तादको पकड़ना हो, तो उस्तादनीको वश करना होगा; वह बेटी बड़ी जबरदस्त औरत है। उसे सहज ही वशमें नहीं किया जा सकता। पर वह बेटी 'मा' नामसे बहुत प्यार करती है। 'मा-मा' कहकर पुकार पानेपर वह गोदमें उठाकर उस्तादके पास ले जाती है। बस, एक बार उस्तादको पकड़ लिया कि पेंचों (भूत) के हाथसे छुटकारा मिल जाता है।

हलधर—उस्ताद क्यों कहते हो ?

पागल—क्या शौकसे उस्ताद कहता हूँ ! देखो न, किस प्रकार कैसा पेंचोंका पिंजड़ा (पञ्चभूतोंका जगत्) बना दिया है ! क्या केवल इतना ही ! ढोल-ढफ, नगारा-दमामा, घंटा-घड़ियाल, काँसा-झाँझ, खोल-करताल—और भी कितने प्रकारके क्या-क्या बाजे बजाने लगते हैं दोनों मिलकर। बाजोंकी आवाजसे नेत्र स्थिर हो जाते हैं। दम बंद होने लगता है। और कुछ नहीं तो काँसा लेकर 'काँईनाना-काँईनाना'—बजाते हैं। ओह कभी 'झीं-झीं' कीड़ेकी आवाज, कभी मीठे सुरोंमें 'गुन्-गुन्' (भ्रमर) की गुंजार शुरू करते हैं, तो कभी 'कुन्-कुन्' का एक यन्त्र बजाते रहते हैं। मन बेचारा सुनते-सुनते तटरहित सागरमें डूबते-उतराते समाप्त हो जाता है।

हलधर—क्या पूरा पागलपन कर रहे हो !

पागल—पूरा पागल होना सहज नहीं है बाबा ! माँको प्राप्त करना 'बुकचेकी रखवाली करनेवाले सयाने पागल'का काम नहीं है !

हुए बिना पूरा पागल पागलकी भाँति, न मिलती मा।
बुकचा रहा सँभाल सयाना पागल जो, न सकेगा पा॥
सुनना नहीं बात भवकी तुम, वह है वन्ध्या-प्रसव-व्यथा।
पर्दा दूर करो नेत्रोंका, यही सार है सत्य कथा॥
लेकर साथ निवृत्ति देविको तत्त्व मार्गपर चलो महान्।
प्रेममत्त हो नाचो, करो निरन्तर 'काली-काली' गान॥

(पागल नाचने लगा।)

हलधर—अरे, ठहरो-ठहरो !

पागल—हाँ, उनकी एक वंशी है। उस वंशीको सुन लेनेपर फिर किसकी शक्ति है जो स्थिर रह सके। वंशीके

* स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीन शरीर हैं।

सात छिद्र हैं—सा, रे, ग, म, प, ध, नि। एक वीणा है—उसके सात तार हैं। यह देखो, मैं तो सातकी बात छेड़कर बड़े बखेड़ेमें पड़ गया। कई सात सृष्टियोंकी बात याद आ गयी मुझे।

हलधर–किस प्रकार ?

पागल–उस्ताद पाँच-सातको लेकर ही खेल करते हैं। उस्तादने कितने सात तैयार किये हैं! देखो अपने घरके सात आवरण—आदिस्पन्दन प्रणव—अ, उ, म्, नाद, बिन्दु, कला और कलातीता—ये सात गायत्री; उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती—ये सात छन्द आहुति वहन करके ले जाते हैं। अग्निकी भी सात जिह्वाएँ हैं—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरुचि। कर्मविशेषमें इनके नामान्तर हो जाते हैं। सात्त्विक यागमें हिरण्या, कनका, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरूपा एवं अतिरक्ता; काम्यकर्ममें राजसी—पद्मरागा, सुवर्णा, भद्रलोहिता, लोहिता, श्वेता, धूमिनी तथा करालिका; क्रूरकर्ममें तामसी—विश्वमूर्ति, स्फुलिङ्गिनी, धूम्रवर्णा, मनोजवा, लोहिता कराला एवं काली। इनके अधिदेवता भी सात हैं—अमर्त्य, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, नाग, पिशाच और राक्षस। धातु भी सात होते हैं—रस, शोणित, मेद, मज्जा, शुक्र, मांस और अस्थि; अथवा पारद, हिङ्गुल, हरिताल, गन्धक, अभ्रक, गैरिक और मनःशिला। सूर्यके घोड़े सात हैं। वर्ण सात हैं; निवृत्तिमार्गके ऋषि भी सात हैं—सनत्सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल, सनातन तथा नारद। प्रवृत्तिमार्गके मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वसिष्ठ—ये सात ऋषि हैं। इनकी सात पत्नियाँ हैं—सम्भूति, अनसूया, क्षमा, प्रीति, सन्नति, अरुन्धती और लज्जा। गङ्गा सात धाराओंमें प्रवाहित हैं—ह्लादिनी, पावनी, नलिनी, शिवजला, सुचक्षु, महानदी और सिन्धु। मनुष्यके शरीरके भीतर—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा एवं सहस्रार—ये सात पद्म हैं।

भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः और सत्य—ये सात ऊर्ध्वलोक हैं; अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल एवं पाताल—ये सात अधोलोक हैं; दर्शन सात हैं—न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा; समुद्र सात हैं—लवण, इक्षु, सुरा, सर्पिष्, दधि, दुग्ध तथा जल; द्वीप सात हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। प्रत्येक द्वीपमें सात-सात कुल पर्वत और प्रमुख नदियाँ हैं। ज्ञानकी भूमिकाएँ सात हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी तथा तुर्यगा। दैवीमीमांसादर्शनमें ज्ञानकी भूमिकाएँ भी सात ही हैं—ज्ञानदा, संन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्यदा, आनन्दप्रदा एवं परात्परा। हास्य, वीर, करुण, अद्भुत, भयानक, बीभत्स और रौद्र—ये गौण सात रस हैं एवं दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति और गुणकीर्तनासक्ति—ये मुख्य सात रस दैवीमीमांसादर्शनमें पाये जाते हैं। समाधिके सात अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान। राज्यके अङ्ग भी सात हैं—स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और बल। रामायणमें सात काण्ड हैं; गीतामें सात सौ श्लोक हैं,—असमर्थ व्यक्ति सप्तश्लोकी गीताका पाठ करते हैं। चण्डीकी भी सप्तशती है। श्रीमद्भागवत एवं गीताका पारायण सात दिनोंमें करना होता है; ग्रहोंके लोक सात हैं। सप्तर्षियोंका मण्डल है। परशुरामने त्रिसप्तवार पृथिवीको क्षत्रियहीन किया था। रामचन्द्रजीने द्विसप्त वर्ष वनमें वास किया था। रघुनाथजीने सात ताल वृक्षोंका भेदन करके सुग्रीवके सम्मुख अपने शौर्यकी परीक्षा दी थी। सप्तमी तिथिको सीताके उद्धारके निमित्त उन्होंने दुर्गापूजा आरम्भ की थी। वासन्तीपूजा सप्तमी तिथिको होती है। राज्याभिषेकके अनन्तर सीतादेवीने अयोध्यामें सत्ताईस वर्ष निवास किया था। श्रीकृष्णचन्द्रने गोवर्धन पर्वतको सात दिन धारण किया था। अभिमन्युको सात महारथियोंने घेरकर मारा था। ग्रहणकालमें यात्राका निषेध सात दिनपर्यन्त है; प्रथमादि विभक्तियाँ सात हैं; वन्य पशु सात हैं—महिष, वानर, ऋक्ष, सरीसृप, रुरु, पृषत् तथा मृग; ग्राम्य पशु भी सात हैं—गौ, भैंस, बकरी, अश्व, अश्वतर, गर्दभ और मनुष्य। वार सात होते हैं; बड़े लोग सात तल्ला भवनका निर्माण करते हैं; महल सात होते हैं। शिकारी सात नलीसे शिकार करते हैं। अभिमान–अभिमन्युका वध करने जानेपर भी सप्तरथी या सात नली बंदूककी दरकार होती है। आभ्युदयिक वसुधारा सात हैं; माङ्गल्यसूत्रके सात डोरे हैं; विवाहके समय आते हैं—सात जने, सात पाक। फिर सप्तपदीगमनके अनन्तर गोत्रान्तर होता है। उसके बाद संसारका कामकाज शेष होनेपर चितापर लिटाकर सात बार प्रदक्षिणा करके मुखमें आग दी जाती है। श्राद्धके मन्त्रोंमें भी—'सप्तव्याधा दशार्णेषु' ऐसा पाठ आता है। सुन ली न, बापू सातकी कथा!

हलधर–ओह बाबा, इतने सात।

पागल–मैं पेंचों (भूत)से कहता हूँ—'अरे, कुरुक्षेत्रमें युद्ध करना होगा, सात महारथियोंको घायल करना होगा।' दुर्योधन कहता है—

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या तु मेदिनी।
तदर्द्धं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव॥

एकदम पतली सुईकी नोक जितनी जमीनपर टिक जाय, उतना भी ज्ञान, अज्ञानसे प्राप्त होनेकी आशा नहीं है। युद्ध करो, सप्तरथियोंको घायल करो—तभी छुटकारा मिलेगा। दो-तीन रथियोंके पैरोंमें तेल लगा आया और भूत बेटा कहने लगा—'सोऽहम्' दो, परीक्षा दो, कपड़े उतारकर फेंको। काशीका नक्शा देखकर आकर, बेटा ऐसी हूबहू गप्प झाड़ने लगता है, मानो अभी-अभी काशी होकर आया है। बेटा! इस तरह मुझे कितना सताता है। राम राम राम! परीक्षा सबको देनी होती है। राम वनमें गये, रावण मेरी माको चुराकर ले गया, रामने सुग्रीवसे सहायताकी याचना की, 'बालीको मार दूँगा'—ऐसा कहा। सुग्रीवने कहा—'परीक्षा दो।' रामने सात तालवृक्षोंका भेदन करके परीक्षा दी। सुग्रीव—सुन्दर ग्रीवा है जिसकी; वही तो है 'सुग्रीव'। समं कायशिरोग्रीवम्—इस प्रकार जो बैठ सके, वही तो है 'सुग्रीव'। दो, उसके समीप परीक्षा दो; एक बाणसे सात तालका भेदन हो—तभी तो सुग्रीव समझेगा कि अज्ञान–रावणके बन्धु काम–वालीको मारनेकी शक्ति है। सात ताल तो दूरकी बात है, तीन तालतक जाते-न-जाते, जरा-सा प्रकाश पाते-न-पाते, पेंचों (भूत) बेटा कहता है, मैं—'सोऽहम्'। और जो चार ताल हैं, उनका तो पता ही नहीं, बीच रास्तेमें ही 'सोऽहम्'। 'अरे! एक जीभसे कितनी बार 'सोऽहम्' बोलेगा?'

सोऽहं सुनना चाहता यदि तो चल उस देश।
बहता आता कहींसे सोऽहं जहाँ अशेष॥
कर रखता जो हृदयको नित उनमत्त महान्।
सुधानन्द-संगीत वह छेड़ मधुरतम तान॥
राग-रागिनी सहित नित नाच-नाचकर मोद।
करता खेल जहाँ सदा चिन्मय दिव्य विनोद॥
शत शत वीणासे जहाँ झंकृत होता नित्य।
'सोऽहं सोऽहं' मन्त्रका अति महान् वह सत्य॥

पेंचों (भूत) यह बात नहीं सुनेगा। बेटा 'कामकिङ्कर' 'आत्माराम' सजकर चालाकी करने आया है। इस पेंचों बेटाने मुझे इतने कष्ट दिये हैं कि इसे लंगोटी पहनाकर, हाथमें माला देकर, लोगोंके दरवाजे-दरवाजे भीख माँगनेवाला बना दूँ, तभी मेरा क्रोध शान्त होगा। राम! राम! राम। हाँ, सातकी कथा सुन ली न? यही पाँच-सात सोचते-सोचते मैं पागल हो गया, राम-राम।

हलधर—अच्छा, तुम 'राम-राम' करते हो, राममें सात कहाँ है?

पागल–सात ऋषियोंने ही तो आकर रत्नाकरको यह मन्त्र-दान किया था। मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम और राम—इस प्रकार 'राम' सातवें अवतार हुए—ये सात हुए। इसके पश्चात् मैंने वंशीकी बात कही थी। उस्तादकी वंशी जिसने एक बार सुन ली, वही उन्मत्त हो गया। एक राजाकी कन्या थी, किसी एक आदमीने आकर उसको 'श्याम' नाम सुना दिया। इस दारुण नामने कानके रास्ते एकबारगी मर्ममें प्रवेश करके उसे विवश बना डाला। राधा अविराम श्याम नाम-का जप करने लगी—

पता नहीं कुछ, 'श्याम' नाममें कितना मधु है भरा अपार।
रसना एक पलक भी रह न पा रही उसे कदापि बिसार॥
जपते-जपते 'श्याम नामने किया विवश मुझको असहाय।
सखि! कैसे वे मिलें श्याम, सत्वर मुझको तुम करो उपाय॥
इतनेमें बज उठी कहीं वह वंशी, राधा उठी पुकार।
सखि! वंशी बज रही कहाँ? वनमें या मेरे मन मंझार?॥

—राधा 'श्याम-श्याम' करते उन्मादिनी हो गयी!

निमाई पण्डित स्वस्थ, सबल, सुन्दर युवक थे। गया गये, पिताको पिण्डदान करने। ज्यों ही गदाधरके पादपद्मका दर्शन किया, त्यों ही उस्तादने वंशी बजा दी। बस, फिर क्या था, नेत्रोंसे झर-झर जल झरने लगा, शरीर थर-थर काँपने लगा। निमाई अपने देशको लौटे—मुखमें और कोई शब्द नहीं—केवल कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण और देखते हैं कि एक कृष्णवर्ण शिशु बाँसुरी बजा रहा है। बूढ़ी माँ, युवती पत्नी—सबका परित्याग करके, घर-संसारको जलाञ्जलि देकर—निमाई 'हा मेरे कृष्ण! हा कृष्ण! हा प्रेममयी राधे!' पुकारते हुए पथ-पथपर क्रन्दन करते घूमने लगे। राधाके बिना कृष्णको नहीं पाया जा सकता। 'साकारेण विना देवी

निराकारं न पश्यति' उस्तादको एक बार देखनेकी इच्छा जाग्रत् हो जाय, पर उस्तादनी दया न करेंगी तो उनका दर्शन नहीं मिलेगा।

इकबर–'उस्तादनी' कहाँ रहती हैं ?

पागल–उस्तादनी बहुरूपिणी हैं—वे सर्वत्र हैं। पुरुषके वामभागमें प्रकृति, शिवके वाममें दुर्गा, रामके वाममें सीता, कृष्णके वाममें राधा और मूलाधारमें कुण्डलिनी वे ही हैं। वे हैं प्रणवरूपिणी, अनन्तरूपिणी सदानन्दमयी माँ!!!

पीछे पीछे दौड़ पड़ा मैं 'पकड़ूँगा' करता करता
किंतु न तुमको पकड़ सका माँ।
'पकड़ लिया' मनमें आते ही मन गल जाता है तत्काल
है तेरी कैसी छलना माँ।

जय राम सीताराम राम राम !

श्रीहरिबाबाजी महाराज

[एक संस्मरण]

(अनन्तश्री स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

बाबा सर्वत्र परिपूर्ण हैं

जो महापुरुष परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न होते हैं, उनके स्थूल शरीरसे उपस्थित रहने या न रहनेसे उनकी विद्यमानतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। वे स्थूल शरीरसे न दीखनेपर भी परमार्थतः परमात्मारूपसे सर्वत्र विद्यमान एवं वर्तमान रहते हैं। अधिकारी पुरुष कहीं भी उनका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उनकी आकृति भी सूक्ष्मरूपसे रहती है और अपने भक्तोंके हृदयमें, जबतक लिङ्ग शरीरका भङ्ग नहीं हो जायगा, तबतक बनी रहती है। इसमें संदेह नहीं कि श्रीहरिबाबाजी महाराज आज भी ब्रह्मरूपसे, ईश्वररूपसे, आत्मरूपसे और विराट्रूपसे सर्वत्र परिपूर्ण हैं। उनका स्वरूप अविनाशी है।

मृत्यु उनका एक खेल

उन्होंने अपने उपदेशोंमें अथवा सामान्य वार्तालापमें भी कभी मृत्युका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि 'महात्मा शरीरसे भी अमर होता है। उसका दीखना, न दीखना तो आँख-मिचौनीका एक खेल है।' वे एक सच्चे खिलाड़ी थे। प्रकटरूपमें भी कबड्डी-चीलझपट्टा आदि खेल खेलते थे और अब छिपकर भी एक लीला ही कर रहे हैं। उनकी मुसकान, उनके अधरोंकी थिरकन, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनके कर-कमलोंका स्पर्श, उनकी मीठी-मीठी बातें लोगोंको प्रत्यक्ष-सी दीखती हैं। उनके करुणा-कोमल कर-कमलोंकी छत्र-छाया अब भी भक्तजनोंके प्राण-कल्याणमें तत्पर है।

समयकी मर्यादा

उनके जीवनका यह अद्भुत चमत्कार था कि वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते थे। रात्रिके उत्तरार्धमें ढाई-तीन बजे ही जग जाते थे। चार बजेसे सामूहिक संकीर्तन प्रारम्भ हो जाता था। नौ बजेसे रासलीला देखते थे। जब वे परिभ्रमणके लिये बाहर निकलते तो लोग अपनी घड़ियाँ मिला लिया करते। समयकी मर्यादाका ऐसा पालन विरला ही किसी महात्माके जीवनमें सम्भव है। एक बार बोले—'केवल उनतीस मिनट कथा होगी।' इसका अभिप्राय यह था कि सर्वदा सावधान रहना चाहिये। जीवनमें प्रमाद या अनियन्त्रणका प्रवेश नहीं होना चाहिये। अनियन्त्रण ही अधर्म है। वृन्दावनके आश्रममें महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी व्याख्यान दे रहे थे। बाबाकी आज्ञासे समय हो जानेपर सेवकने घंटी बजा दी। पण्डित अखिलानन्द कविरत्न रुष्ट हो गये; परंतु अब क्या हो ? मर्यादाका उल्लङ्घन पाप जो है।

मनकी एकाग्रता

जब वे प्रातः-सायं चंक्रमणके लिये निकलते थे, जहाँ हाथ रखकर निकलते, लौटते समय भी वहीं होता। पाँच मील गये, आये, परंतु हाथ वहींका वहीं। अन्तर्मुखता बनी रहती। आगे-आगे सेवक न होता तो मार्ग भूल जाते। दायें-बायें न देखते। सामने भी दूरतक दृष्टि नहीं फेंकते। कौन आया, कौन गया, इस ओर ध्यान नहीं देते थे।

संसारी बड़ोंकी उपेक्षा

वैसे उनके जीवनमें विनय और छोटे बालकका-सा सरल भाव था। हम बच्चोंके भी आनेपर उठकर खड़े हो जाते, दण्डवत्-प्रणाम करने लगते। छोटे-से-छोटा काम अपने हाथसे कर लेते। बराबर बैठते। निरभिमानताकी तो मानो मूर्ति ही हों। परंतु जो लोग स्वयं अपने मुँह अपनेको बड़ा मानते हैं, उनकी ओर आँख उठाकर देखतेतक नहीं थे। वृन्दावनके श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें अनेक सम्प्रदायोंके बड़े-बड़े आचार्य पधारते थे, परंतु वे उनकी ओर देखतेतक नहीं थे। सप्तसरोवर-हरिद्वारके सप्तऋषि आश्रममें देशके एक बहुत बड़े नेता एवं अधिकारी पुरुषने आकर प्रणाम किया, परंतु उनके नेत्र बंद ही रहे। ध्यान दिलानेपर भी वे उनकी ओर अभिमुख नहीं हुए। संसार जिनको बड़ा कहता है, उसमें उनकी कोई महत्त्व बुद्धि नहीं थी।

गुरुनिष्ठा

वे बाल्यावस्थामें अपने गुरुदेव स्वामी श्रीसच्चिदानन्दजी महाराजको होशियारपुरमें पंखा झला करते थे। इसका अभ्यास इतना पक्का हो गया था कि वे रामलीला, श्रीचैतन्यलीला, रासलीला और श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें भी घंटोंतक लगातार खड़े रहते, पंखा झला करते थे। एक दिन पूछनेपर उन्होंने बताया कि मुझे न राम दीखते, न कृष्ण। ऐसा लगता है कि गुरुजी महाराज लेटे हुए हैं और मैं अपनी सेवा कर रहा हूँ। इसी वर्ष जन्माष्टमीके दो दिन बाद वृन्दावनसे अन्तिम बार जाते समय उनके मुखसे एकाएक निकला था कि 'मेरे जीवनमें जैसी श्रद्धा अपने गुरुदेवपर हुई, वैसी श्रद्धा फिर किसीपर कभी नहीं हुई।' कभी-कभी उन्होंने रामलीला महीनेभरतक निरन्तर देखी, परंतु उनको यह ज्ञात नहीं हुआ कि स्वरूप बननेवाला बालक गोरा है या काला है!

उनके जीवनमें जैसी गुरुनिष्ठा देखनेमें आयी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उनके एकमात्र गुरु स्वामी श्रीसच्चिदानन्द गिरि ही थे। वे बार-बार उनकी उन्मन-स्थितिका वर्णन करके प्रेमगद्गद हो जाया करते थे। उन्हींके स्थानकी सेवा भी करते थे। उन्हींकी कृपासे बाबाको अडिग ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त हुई थी। वे कहते थे कि 'महाराजकी दृष्टि और संकल्पसे ही लोगोंको आत्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति हो जाया करती थी। श्रीअच्युतमुनिजी महाराजसे उन्होंने केवल प्रस्थानत्रयीका अध्ययन किया था। मुनिजीने उन्हें पौरुषकी प्रेरणा भी दी थी।

पौरुषकी प्रेरणा

श्रीहरिबाबाजी महाराज अपनी युवावस्थामें गङ्गातटपर विचरण करते हुए भेरियामें श्रीअच्युतमुनिजी महाराजके पास गये। उन्होंने श्रीमुनिजीसे प्रार्थना की—'महाराज! ऐसी कृपा करें कि वृत्ति अपने स्वरूपमें टिक जाय।' मुनिजी एक वयोवृद्ध, विद्वान्, भारत-प्रसिद्ध संत थे। वे जरा झुककर बैठे हुए थे। प्रार्थना सुनते ही तनकर बैठ गये और बोले—'अरे हरि! तू आलसी बनना चाहता है! कृपाकी भीख माँगना आलसी बनना है। तू स्वयं अपने पौरुषसे वृत्तिके अस्तित्वको मटियामेट कर दे।'

श्रीहरिबाबाजी यह प्रसंग अत्यन्त प्रेम और प्रसन्नतासे कभी-कभी सुनाया करते थे। जो लोग कहते हैं कि श्री-हरिबाबाजीने वेदान्त और वेदान्ती गुरुको छोड़ दिया था, वे मिथ्याभाषी हैं। बाबा ब्रह्मनिष्ठ रहकर ही लोक-कल्याणके लिये भक्तिका प्रचार और नाम-संकीर्तन करते थे।

पौरुषका प्रकाश

श्रीहरिबाबाजीकी जीवनचर्यामें पौरुष ही नहीं, महा-पौरुषका प्रकाश था। वे जन-जनमें और कण-कणमें भगवान्का ही दर्शन करते थे। उनकी सब क्रिया भगवद्दृष्टिसे ही होती थी। जब कुछ न्यूनाधिक सात सौ गाँवों, गायों और किसानोंको गङ्गाजीकी बाढ़से ग्रस्त और संत्रस्त देखा तो स्वयं फावड़ा और टोकरी लेकर बाँध बनानेके काममें लग गये। झुंड-के-झुंड लोग जुट पड़े। भण्डारे खुल गये। लोगोंके मनोरथ पूर्ण होने लगे। चमत्कार-पर-चमत्कार। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज आकर वहीं विराज गये। घोषणा कर दी गयी—'बाँध-भगवान्की सेवामें एक टोकरी मिट्टी डालो और जो इच्छा हो प्राप्त करो।' केवल दस महीनेमें इतना बड़ा बाँध तैयार हो गया, जिसके निर्माणमें करोड़ों रुपयेका खर्च होता। उस समयकी ब्रिटिश सरकारने भी हार मान ली थी। उसकी लंबाई तेईस मीलके लगभग है। वे सभी वस्तुओंको ईश्वररूप और सभी क्रियाओंको ईश्वरकी सेवा समझते थे और बताया करते थे।

निन्दा न सुनना

उनमें एक अद्भुत विशेषता यह थी कि वे किसीकी निन्दा

सर्वथा नहीं सुनते थे । निन्दा करनेवालेसे कह देते थे कि 'भगवान्‌का नाम लो या बाहर जाकर कोई काम करो ।' एक बार एक मासिकपत्रिकामें लगातार दो-तीन बार साधुओंकी आलोचना छपी तो उसको उन्होंने पढ़ना ही बंद कर दिया । वे कहते तो यह थे कि 'निन्दा-स्तुति दोनों ही नहीं करनी चाहिये' परंतु यह देखनेमें आया कि वे साधारण-से-साधारण व्यक्तियोंके छोटे-छोटे गुणोंकी प्रशंसा किया करते थे ।

बड़ोंका आश्रय

एक बार उन्होंने कहा था कि 'यदि अपनेसे बड़ा कोई मनुष्य न मिले तो किसी पशु, पक्षी और पत्थरको भी अपनेसे बड़ा मानकर उसके नीचे रहना चाहिये । बड़ोंकी छत्र-छायामें रहनेसे अपनेमें दम्भ, अभिमान आदि दोष नहीं आते और पूजा-प्रतिष्ठा भी उन्हींकी ओर चली जाती है । उनके जीवनमें यह प्रत्यक्ष देखा गया कि वे सर्वदा ही किसी-न-किसी बड़े महात्माके साथ रहे ।

विनोदी स्वभाव

सामान्यतः लोग समझते कि बाबा बड़ी गम्भीर प्रकृतिके हैं । परंतु जो उनके निकट रहते थे, उनके साथ वे विनोद भी खूब करते थे । लोग भी उनको हँसानेके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वाँग बनाकर प्रहसन करते । एक बार बाबाको कहीं गङ्गापार जाना था । नावपर जा बैठे । उनके साथ और बीस-पचीस जन थे । मल्लाहने पूछा—'महाराज ! आपका और आपके साथियोंका खेवा (नावका किराया) मैं नहीं लूँगा । आप बता दीजिये कि आपके साथ कौन-कौन हैं ?' बाबाने कहा—'भैया ! मैं तो अकेला हूँ, मेरे साथ और कोई नहीं है ।' मल्लाहने औरोंसे पैसा माँगा, परंतु संयोग ऐसा कि उस समय किसीके पास पैसा न था । सबको उतर जाना पड़ा और बाबा अकेले पार उतर गये । दूसरे लोग गाँवसे पैसा मँगाकर फिर पार गये । अच्छा विनोद रहा ।

दूसरोंसे अप्रभावित

टाटवाले नारायण स्वामीजी हरिद्वारके पास बहादराबादमें ठहरे हुए थे । श्रीहरिबाबाजी उनका दर्शन करने गये । श्रीनारायण स्वामीजीने कहा—'आज रात्रिमें भगवान् नारायणने मुझे दर्शन दिया और उस समय तुम्हारा स्मरण किया । नारायणने आज्ञा की है कि अब हरिबाबाको संकीर्तन, उत्सव, धूमधाम, भीड़भाड़ छोड़कर एकान्तमें रहना चाहिये और वेदान्त-चिन्तन करना चाहिये । अब तुम ऐसा ही करो ।' श्रीहरिबाबाजीने बड़े विनयसे उत्तर दिया—'स्वामीजी ! मैंने भी अपना जीवन थोड़ा-बहुत भगवान्‌का नाम लेते हुए व्यतीत किया है । यदि वे मुझपर कृपा करते हैं, आदेश देते हैं तो सीधे मुझे क्यों नहीं देते ! आपके द्वारा क्यों भेजते हैं ? क्या मैं उनके स्वप्नादेशका भी अधिकारी नहीं हूँ ? और जब प्रभुकी मुझपर इतनी कृपा है, स्मरण करते हैं, आदेश देते हैं तो जो काम वेदान्त-चिन्तनसे होता है, वह क्या वे स्वयं नहीं कर देंगे ?' वे उन्हें सादर दण्डवत्-प्रणाम करके चले आये ।

जीवन्मुक्तिकी भूमिकाएँ बाधित थीं

इसी ढंगका एक प्रसंग और आया । पंजाबमें कोई प्रसिद्ध महात्मा थे । लोगोंका विश्वास था कि वे छठी भूमिकामें रहते हैं । लोगोंसे बहुत कम मिलते, कम बोलते, प्रपञ्चका विसरण-सा रहता । कभी बात करते तो अत्यन्त धीमी आवाजमें साँय-साँय । कुटिया बंद रहती । उनके शरीरकी साज-सँवार उनके सेवक लोग करते । एक साधु उनकी प्रशंसा करके श्रीहरिबाबाजीको उनके पास ले गये । उन्होंने भी श्रीहरिबाबाजीसे कहा कि 'अब जनसंसर्ग और संकीर्तन आदिका विक्षेप छोड़कर ब्रह्मात्मैक्य-चिन्तन करो और अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ ।' बाबाने अत्यन्त विनयके साथ उनका उपदेश श्रवण किया और चले आये । उनकी रहनीमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं पड़ा । वास्तविकता यह थी कि बाबा पहलेसे ही सातों भूमिकाएँ पार कर चुके थे । उनके मनमें इनके प्रति कोई महत्त्वबुद्धि नहीं थी । जिसमें अविद्या ही न हो, उसको चिन्तनकी क्या आवश्यकता ! सम्यक् बोध केवल प्रवृत्तिका ही नहीं, निवृत्तिका भी उपमर्दन कर देता है । उनका हँसना-बोलना, चलना-फिरना—सब लोक-मङ्गलके लिये ब्रह्मरूप ही था । उन्हें जो साधक समझते थे और साधनके लिये उपदेश करते थे, वे उनके वास्तविक रूपको नहीं समझते थे ।

उनका सब ठीक है

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे किसीने कहा—'श्रीहरिबाबाजीको यह काम करनेसे मना कर दीजिये ।' महाराजने कहा—'बाबा साक्षात् परमेश्वर हैं, वे जो कुछ

करते हैं, वही ठीक है। मैं क्यों मना करूँ? तुम्हें उनकी कोई बात नहीं जँचती है तो स्वयं जाकर मना करो।' एक बार किसी भक्तने महाराजजीसे कहा—'इस सम्बन्धमें श्रीहरिबाबाजीने यह निर्णय दिया है, आप क्या कहते हैं?' वे बोले—'बाबाने जो कह दिया, वही वेदवाक्य है। उनके कह देनेके बाद मुझसे क्यों पूछने आये हो?' महाराजजीके सम्बन्धमें बाबा भी प्रायः ऐसी ही बात कहते थे। असलमें दोनों एक ही थे और परस्पर एक-दूसरेको बातको अपनी ही बात मानते थे।

विक्षेप भी रामलीला है

दिल्लीमें प्रतिवर्ष विशाल रामलीलाका आयोजन होता है। उसमें दस-दस लाखतक जन-समूह होता है। विदेशी राजदूत आते हैं। हमारे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री भी आते हैं। कोलाहलकी पराकाष्ठा होती है। भक्त लोग बाबाको भी रामलीलामें ले गये। साथमें सेवकके रूपमें वैकुण्ठदास भी थे। उन्होंने कहा—'बाबा! यहाँ बड़ी भीड़ है, कोलाहल है, विक्षेप है, अशान्ति है।' बाबा हँसने लगे, बोले—'बावरे! तू यहाँ वानर-राक्षसोंका युद्ध देखने आया है या एकान्त-शान्त, समाधिका आनन्द लेने? यह शोर-गुल तो युद्ध-भूमिका है। यहाँ विक्षेपको ही भगवान्‌की लीला अनुभव करनेका है। अपना मन मत देखो, भगवान्‌की लीला देखो।' क्या अजब और गजब निष्ठा थी उनकी। कच्चे वेदान्ती या योगी उनको कैसे समझ सकते हैं!

नियम पालनके लिये

वैसे देखें तो बाबाके द्वारा बहुत बड़ा प्रचार-कार्य हुआ। उत्तर भारतमें ऐसा कोई विरला ही नगर होगा, जहाँ उन्होंने पावन नामके उद्घोषसे वातावरणको पवित्र न बनाया हो। कोई अभागा ही आध्यात्मिक पुरुष होगा, जिसके कानोंमें उनके आदर्श चरित्र और प्रेममय नामकी ध्वनि न पहुँची हो। इतना होनेपर भी वे प्रचारके भावसे कितने मुक्त थे—इसका एक उदाहरण देखिये। वृन्दावनके श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके आश्रममें वे श्रीधरीके अनुसार गीतापर कुछ उपदेश कर रहे थे। एक अजनबी आदमी बीचमें बोल उठा—'महाराज! जरा जोरसे बोलिये, सुन नहीं पड़ता।' बाबाने कहा—'भैया! हम अपना नित्य-नियम पूरा करनेके लिये गीताका पाठ करते हैं। तुम्हें नहीं सुन पड़ता तो अपना मन और एकाग्र करो, पास आ जाओ। संतोष न हो तो चले जाओ। हम भगवान्‌को सुनानेके लिये पाठ-कीर्तन करते हैं, मनुष्यको सुनानेके लिये नहीं।'

दूसरेको परेशानीसे बचाना

किसी प्रेमी भक्तके आग्रहसे उसके घर भोजन करनेके लिये चले गये। संयोगवश उसकी पत्नी छू गयी। भक्तने स्वयं अपने हाथसे भोजन बनाया। जब बाबा जीमनेके लिये बैठे तो देखा कि आलूकी सब्जी एरण्डीके तेलमें बनी है। बाबाने भक्तको यह बात नहीं बतलायी। 'बहुत बढ़िया बनी है'—कहकर धीरे-धीरे सब खा गये। आश्रमपर आनेके बाद दस्त लगने लगे। सेवकोंके पूछनेपर बोले—'आज जुलाब ले लिया है।' खिलानेवाले भक्तके मनमें परेशानी न हो, इसके लिये उन्होंने स्वयं परेशानी उठा ली। इतना संकोची स्वभाव था उनका कि श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे आमने-सामने बात भी नहीं करते थे। साथ बैठे रहनेपर भी कोई बात पूछनी होती तो दूसरोंसे पुछवाते। बाबाका हृदय बहुत ही कोमल था।

केवल गुणदर्शन

श्रीवृन्दावनधाममें एक विद्वान्‌के घर कथा सुननेके लिये जाया करते थे। प्रवचनकार भक्तिरसके अच्छे जानकार थे। बाबा जाकर सबसे पीछे बैठ जाते। नजर नीची रखते। कथा समाप्त होनेपर चुपचाप उठ आते। साथके सेवकने एक दिन निवेदन किया कि 'भगवन्! ये सज्जन कथा उच्च कोटिकी कहते हैं, परंतु रहते बड़े ठाट-बाटसे हैं। बैठककी एक-एक खूँटीपर अलग-अलग शाल-दुशाले टँगे रहते हैं। यह क्या बात है?' बाबाने अपने सेवकको डाँट दिया और कहा—'तुम कथा सुनने जाते हो या इधर-उधर शाल-दुशाले देखने? अपने हृदयको भगवन्मय बनाओ। संसारमें एक ईश्वर ही निर्दोष है।'

परोपकार कैसे?

बात पुरानी है, पर बाबाने स्वयं सुनायी थी। जब वे काशीके पास गङ्गातटपर विरक्तभावसे विचरण करते और भिक्षा माँगकर खाते, तब उनके पास जन्मभूमिका कोई पूर्वपरिचित व्यक्ति आया। उसने अपना कष्ट बताया कि 'मेरे पास घर जानेके लिये रेल-किराया नहीं है। तुम प्रबन्ध कर दो।' बाबाने उसे 'न' नहीं किया। अपने मनमें

यह संकल्प किया कि प्रत्येक घरसे एक पैसा लेंगे। एक झोली बनायी और उसमें घर-घर एक-एक पैसा माँगने लगे। कोई देता, कोई नहीं देता, कहीं अपमान मिलता। वस्तुतः अपमान-सहन ही भिक्षाका तत्त्व है। जब अनुमानसे चौदह-पंद्रह रुपये हो गये, तब उन्होंने वह झोली ही उसको सँभला दी। हाथसे पैसा नहीं छूआ। बाबाका यह प्रेम, तप, त्याग, सहिष्णुता और सुशीलता देखकर वह व्यक्ति सदाके लिये बाबाके प्रति निछावर हो गया और आजीवन उन्हींका होकर रहा।

समता और स्वच्छता

बाबाके परिकरमें सभी जातिके लोग सम्मिलित होते थे। उनके पास वर्ण, आश्रम, मजहब, पन्थ आदिका कोई भेद नहीं था। उनके निकट परिकरमें विद्वान् अग्रज, भोले अन्त्यज, मुसल्मान एवं ईसाई भी सम्मिलित थे। सिक्खोंकी तो एक बड़ी संख्या थी। वे किसीके पाँव छूनेमें हिच-किचाते नहीं थे। सबको हृदयसे लगा लेते थे और सबको प्यार करते थे। उन्हें सफाई सबसे अधिक पसंद थी। बाँधपर गोबरसे लीपना और मिट्टी डालना हमेशा चलता रहता था। दिनभर गिरते हुए पत्तोंको झाड़नेके लिये लोग लगे रहते थे। यदि वे कहीं नयी जगह भी जाते तो क्या ब्राह्मण-पण्डित, क्या राजा-रईस, क्या शूद्र सबको सफाईके काममें लगा देते थे। एक बार हमलोग सिद्ध संत श्री-त्रिवेणीपुरीजी महाराजके उत्सवमें खन्ना गये थे। वहाँके रास्ते गंदे थे—नागफनी और सेंहुड़से घिरे हुए थे। बाबाने बाँधके लोगोंको सफाईके काममें लगा दिया। मैं उधरसे निकला। पण्डित छविकृष्ण दीक्षित और ठाकुर साहब बहादुरसिंह फावड़ेसे कूड़ा-कचरा हटा रहे थे। उन्होंने मुझे प्रणाम करके कहा—'स्वामीजी! हमारी तो जात पहचानी गयी। कहते हैं कि चमार जहाँ जाता है, वहाँ उसे चामका ही काम करना पड़ता है। हम बाँधके लोग जहाँ जाते हैं, यह टोकरी और फावड़ा हमलोगोंके पीछे-पीछे जाता है।' ये लोग आजीवन जान हथेलीपर रखकर बाबाकी सेवामें रहे। बाबा पाँच-पाँच सात-सात मीलतककी सफाई करवाते थे और कहते थे—'सफाई ही खुदाई है।'

पण्डितजी! दण्डवत्!

बाबाके साथ एक रसिक विद्वान् श्रीसुन्दरलालजी रहा करते थे। वे रोम-रोमसे बाबाके प्रति प्रेम करते थे। मुँह लगे इतने थे कि सामने ही खरी-खोटी सुना देते। भरी सभामें भी अनाप-शनाप बोल देते। कहते—'इतनी भीड़, इतना काम, इतना प्रपञ्च इकट्ठा करनेकी क्या आवश्यकता है।' सचमुच उनका जीवन त्यागमय था। एक दिन बाबा और वे—दोनों स्नानके लिये गङ्गाजीमें उतरे। तैरनेकी कलामें दोनों ही पारंगत थे। सब लोग किनारेपर रह गये और वे दोनों आगे बढ़ते गये। धीरे-धीरे गङ्गापार पहुँच गये। बाबाने कहा—'पण्डितजी! आओ, अब यहींसे हरिद्वार चलें।' पण्डितजीने कहा—'न लोटा, न धोती, यहींसे कैसे चलें?' बाबाने कहा—'अच्छा, पण्डितजी! अब आप जाइये, लोटा-धोती सँभालिये। मैं चला, दण्डवत्।' वे अकेले चल पड़े। पण्डितजी लौट गये। बाबा कई दिनोंतक गुप्त रहे। भक्तोंने उन्हें उत्तरकाशीमें पकड़ा। वहाँ भी उन्होंने किसीको अपना परिचय नहीं दिया। एक प्रसिद्ध संन्यास-आश्रमके अधिकारियोंने उन्हें उदासी समझकर निकाल दिया। उन्होंने पूछनेपर साफ कह दिया था कि 'मैं संन्यासी-उदासीका भेद नहीं जानता।' असलमें उन्होंने भेदभावको जड़से उखाड़ फेंका था और निःस्पृहताका आभूषण धारण कर रक्खा था।

विविध पक्षोंमें समता

उनके कार्यक्रमकी एक असाधारण प्रणाली यह थी कि जब भक्तोंमें कोई मतभेद हो जाता, तब विभिन्न पक्षोंको कागजके विभिन्न टुकड़ोंपर लिखवाकर ठाकुरजीके सामने रखवा देते और प्रार्थना-कीर्तन करके किसी अनभिज्ञ बालकसे उठवाते। जो लिखा हुआ निकलता, उसके अनुसार व्यवहार करते। सामान्यरूपसे यह बात बुद्धिमानोंको ठीक नहीं जँचती थी। किसी भी युक्तिसंगत और उचित पक्षको संयोगपर छोड़ देना भला कौन पसंद करेगा? मैंने इसपर विचार किया और मुझे ऐसा लगा कि यह उनकी समताका लक्षण था। वे संसारके विविध विवादास्पद विषयों, व्यक्तियों, स्थानों एवं कर्तव्योंको समताकी दृष्टिसे ही देखते थे। इसलिये चाहे जो भी होगा, उसमें जीवोंका हित ही होगा, उनकी यह दृढ़ निष्ठा थी। उन्हें सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होता था या ईश्वरदर्शन—यह एक अलग प्रश्न है; परंतु इतना तो निश्चित ही है कि सृष्टिके विभिन्न पक्षोंमें उन्हें सम एवं अनुकूल परमार्थका ही दर्शन होता था।

प्रणाम करनेयोग्य

जब मैंने ज्योतिष्पीठाधीश्वर शंकराचार्य श्रीब्रह्मानन्द

सरस्वतीसे दण्ड ग्रहण किया, तब उन्होंने कहा कि 'जिसके पास दण्ड न हो और दण्डियोंमें भी जिसका चातुर्मास्य और विद्या अधिक न हो, उसको प्रणाम नहीं करना।' मैंने श्रीउड़ियाबाबाजीका नाम लेकर प्रश्न किया, तब उन्होंने कहा कि 'वे तो गोवर्धन-पीठाधीश्वर शंकराचार्यके शिष्य हैं और पहलेके दण्डी हैं, इसलिये उन्हें प्रणाम करनेमें कोई हानि नहीं है।' उसके बाद मैं बाँधपर आया। श्रीहरिबाबाजीको 'प्रणाम करें कि नहीं?' यह प्रश्न अपने महाराजजीके सामने रखा। उन्होंने कहा—'निरभिमानता और विनय सर्वोत्तम गुण है। भागवतमें लिखा है कि कुत्ते, बैल और गधेको भी धरतीपर लेटकर भगवद्बुद्धिसे प्रणाम करना चाहिये। श्रीहरिबाबाजी एक उच्चकोटिके महापुरुष हैं। हजारों लोग उन्हें भगवद्दृष्टिसे देखते हैं। वे दैवी सम्पत्तिके खजाने हैं। वे वर्णाश्रमातीत पुरुष हैं। उन्हें अवश्य प्रणाम करना चाहिये। प्रणाम करना अपना सद्गुण है। वह अपनेमें रहना चाहिये। तुम हमेशासे उनको प्रणाम करते रहे हो। अब भी करना चाहिये।' श्रीउड़ियाबाबाजीकी दृष्टिमें श्रीहरिबाबाजी उनके स्वरूप ही थे।

अन्न ब्रह्म

श्रीहरिबाबाजी महाराजका भोजन बरसोंतक एक सरीखा ही चलता रहता। साबूत मूँग और सब्जी—दोनों मिलाकर एक साथ पकाया जाता था। प्रायः रोटीके साथ खाते थे। भोजन आनेपर अपने उपयोगभरका अपने कटोरेमें ले लेते और खा लेते थे। सब जूठा नहीं करते थे। अन्तमें कटोरेको भी धोकर पी लेते थे। यह नियम लेनेके पहले भी वे वर्ष-वर्ष भर या छः-छः महीनेतक एक ही ढंगकी वस्तु खाते थे। एक बार मुझे जुकाम हुआ। एक बोतल काष्ठौषध भेज दी पीनेके लिये और बोले—'भात खाओ तो जुकाम अच्छा हो जायगा। सृष्टिमें भात ही अमृत है।' वर्ष-दो-वर्षके बाद मुझे फिर जुकाम हुआ। दवा भेजी और कहला दिया कि 'रोटी खाओ और यही अमृत है।' मैंने सोचा कि कभी भातको अमृत कहते हैं, कभी रोटीको। इसका क्या कारण है? पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि वे जब, जो खाते हैं, तब उसीको अमृत बताते हैं। असलमें अन्न ब्रह्म है। उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। ब्रह्म-बुद्धिसे ही उसका सेवन करना चाहिये। ब्रह्म-बुद्धिसे प्रत्येक अन्न सब रोगोंकी औषध हो जाता है।

संकल्प

एक बार मुझसे बोले 'आओ, एक वर्षतक संकल्प ग्रहण करके वृन्दावनमें बैठें। तुम श्रीधरी भागवत सुनाओ। मैं आदिसे अन्ततक सुनूँगा।' मैंने कहा—'एक वर्षके अनुष्ठानका नाम सुनकर दूर-दूरसे लोग इकट्ठे हो जायँगे। उनके भोजन और निवासकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी?' बाबाने कहा—'प्रतिदिन भागवतकी कथा होगी। हरिनामका संकीर्तन होगा। तुम कहोगे और मैं सुनूँगा। फिर भगवान् क्या खान-पानकी व्यवस्था भी नहीं करेंगे?' हमलोग नियमपूर्वक बैठ गये। कथावार्ता चलने लगी। सब प्रबन्ध हो गया।

संकल्पके विघ्न

इसी अनुष्ठानके बीचमें हैदराबाद सिन्धके वेदान्त-मर्मज्ञ भाई हेमनदास, जो कि मुझपर बहुत श्रद्धा-प्रीति रखते थे, कोलम्बोके सेठ जीवतरामको लेकर आये। उन्होंने आग्रह किया कि 'श्रीलंका चलो, वहाँके हिंदुओंमें धर्म-संस्कृतिका प्रचार करनेके लिये।' मार्ग-व्ययके रुपये जमा हो गये। मथुराके मजिस्ट्रेटने प्रमाण-पत्र देनेका वादा किया। जब यह बात बाबाके पास पहुँची, तब उन्होंने कहा कि 'यह अनुष्ठानमें विघ्न है। जो संकल्प कर लिया, उसे बीचमें नहीं तोड़ना।' मैंने उनकी आज्ञा मान ली। श्रीलंकाकी यात्रा कट गयी।

संकल्पकी निवृत्ति

ग्यारह महीने पूरे होते-न-होते बाबाने कहा कि 'अब जितना बाकी है, दोनों समयमें पूरा करके पंद्रह दिनमें पूरा कर दो; क्योंकि मैं पुरी जाना चाहता हूँ।' मैंने कहा—'पंद्रह दिनके लिये संकल्प क्यों तोड़ते हैं?' बाबाने हँसकर मेरी पीठपर हाथ रख दिया और बोले—'संकल्प पूरा करनेका आग्रह संसारियोंका होता है। साधुके संकल्पका तो टूट जाना ही अच्छा है। जहाँ अपना संकल्प पूरा नहीं होता, वहाँ अपने प्रियतम प्रभुका संकल्प पूरा होता है।'

केवल रसास्वादन

ब्रिटिश शासनकालमें ग्वालियर राज्यके करहे नामक स्थानमें बाबा रामदासने एक महान् उत्सवका आयोजन किया था। चौबीसों घंटे सैकड़ों कड़ाहियोंमें मालपूए

बनते रहते थे। गाँवके लाखों लोग आते और जाते। बस, भोजन और भजनका मेला था। अपने महाराज श्रीउड़ियाबाबाजीके साथ मैं भी वहाँ पैदल गया था। वहाँ लाखोंकी भीड़ देखकर मैंने सामान्य सदाचार-सम्बन्धी प्रवचन किया। सत्संगके अन्तमें श्रीहरिबाबाजी महाराजने मुझे बुलाकर कहा—'भैया! जरा मेरा भी ध्यान रक्खा करो। तुम प्रवचन करते समय भूल ही गये कि मैं यहाँ बैठा हूँ।' इसका अभिप्राय यह है कि वे अपना लोक-परलोक बनानेके लिये अथवा अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिये प्रवचन नहीं सुना करते थे। सदाचारका प्रचार-प्रसार इष्ट होनेपर भी वे स्वयं भगवद्-रसास्वादनमें ही अपना समय व्यतीत करना चाहते थे। उन्हें भूत-भविष्य, प्रचार या लोक-कल्याणकी कोई वासना नहीं थी। वे जानते थे कि कुत्तोंकी पूँछको कितनी भी सीधी करो, वह टेढ़ी-की-टेढ़ी ही रहती है। अपने आपको परमानन्द-प्रभुमें और उनके रसमें मग्न रखना—यही जीवनकी सफलता है।

अद्वैतनिष्ठा

फीरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) के उत्सवमें उनके साथ मैं भी गया। बम्बईवाले श्रीकृष्णानन्दजीके आग्रहसे वहाँ जाना हुआ था। श्रीराधाकृष्णके मन्दिरमें ठहरे। लौटते समय एक ही गाड़ीमें उनके साथ मैं बैठा। मथुराके पुलिस इन्सपेक्टर श्रीनारायणसिंह मोटर ड्राइव कर रहे थे। ढाई घंटेकी यात्रामें मैंने उनसे अनेक प्रश्न किये और उनके उत्तर बड़े प्रेमसे उन्होंने दिये। एक उदाहरण देखिये—'आपकी निष्ठा क्या है?' मैंने पूछा। वे बोले—'मेरी अद्वैतनिष्ठा है। मेरे गुरुजी स्वामी श्रीसच्चिदानन्द गिरिजीकी अद्वैतनिष्ठा परिपूर्ण एवं परिपक्व थी। उनकी कृपासे ही मुझमें अद्वैतनिष्ठाका संचार हुआ था और वह ज्यों-की-त्यों अखण्ड है।' मैंने पूछा कि 'लोग तो यही समझते हैं कि आप भक्ति-परायण, संकीर्तननिष्ठ हैं।' वे बोले—"दोनोंमें विरोध कहाँ है। मुक्ति वा अद्वैत अपना स्वरूप है, भक्ति हृदयमें निरन्तर उल्लसित रसकी धारा है। शान्त-रस और उल्लसित-रसमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। उल्लास पारमार्थिक है अथवा व्यावहारिक है—इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि रसकी अविच्छिन्न भासमानता है। हृदय रसमें उन्मज्जन-निमज्जन करे, स्वरूप ज्यों-का-त्यों। रसिकाचार्य भी तो यही कहते हैं—'भक्तिर्मुक्त्यैव निर्विघ्ना' अर्थात् मुक्तिके अनन्तर भक्ति निर्विघ्न और निरुपद्रव होती है।"

सकाम-निष्काम

अनेक महात्माओंका कहना है कि 'भक्ति निष्काम होनी चाहिये।' इसमें संदेह नहीं कि निष्कामता उच्च कोटिकी वस्तु है। श्रीहरिबाबाजी महाराज निष्कामताकी प्रशंसा किसीसे कम नहीं करते थे। परंतु वे साधारण जनके लिये ऐसी स्थितिको कठिन मानते थे। उनका कहना था कि 'यदि किसीको कुछ वासना भी हो तो उसके लिये प्रार्थना भगवान्से ही करनी चाहिये, और किसी-से नहीं। ध्रुव, गजेन्द्र, द्रौपदी आदिके समान पहले सकाम भाव होता है और बादमें निष्काम प्रेम होता है। सेवक या पत्नी स्वामीको छोड़कर और किसके पास माँगने जाय।' वे व्यक्तिशः और संघशः—दोनों प्रकारसे सकाम अनुष्ठान करवाते थे और अधिकांश उनकी पूर्ति होती थी। जहाँ भगवान्से एकता है, वहाँ सकाम-निष्काम कुछ होता ही नहीं। प्रेम-पत्तनमें कहा गया है—'प्रेमनगरमें निष्कामतासे सकामता श्रेष्ठ है। प्रभुके प्रति निष्कामता ही सकामताके समान निकृष्ट है। रससिद्ध पुरुषोंको सकामता और निष्कामता एक ही कोटिमें अपना स्वरूप ही भासती है; क्योंकि उनके लिये यह, वह, मैं—सब भगवत्-स्वरूप ही होता है।'—

दीन-प्रार्थना

ब्याधहू तें बिहद, असाधु हौं अजामिल लौं, ग्राह तें गुनाही, कहौ तिनमें गिनाओगे?
सिवरी हौं, न सूद्र हौं, न केवट कहूँ को त्यों, न गौतमी तिया हौं जापै पग धरि जाओगे।
राम सौं कहत पदमाकर पुकारि, तुम मेरे महापापनको पारहू न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी, हौं तो साँचो हूँ कलंकी कैसे अपनाओगे?

सत्संग-वाटिकाके बिखरे सुमन

१–सारे जगत्से 'प्रीति, प्रतीति, सगाई' छूटकर एक भगवान्में केन्द्रित हो जानी चाहिये। मनुष्य त्याग करता है—धन, सम्बन्धी, घरको छोड़ देता है, पर उसके मनमें उनका महत्त्व बना रहता है। उसके मनमें यह वृत्ति बनी रहती है—चाहे वह अत्यन्त छिपे रूपमें ही क्यों न हो—"मैंने बड़ा त्याग किया है, मैंने 'गौरववाली' वस्तुओंको छोड़ दिया है।" जबतक जगत्की वस्तुओंके प्रति गौरवबुद्धि है, उपादेयबुद्धि है, तबतक समझना चाहिये कि वास्तविक त्याग नहीं हुआ।

२–नाक छींकनेपर कभी मनमें आता है क्या कि 'हमने बड़ा त्याग कर दिया !' मैला लगा है, उसे धो-बहा दिया तो क्या हम कहते हैं कि 'हमने कितनी बड़ी वस्तुको छोड़ दिया !' जगत्के पदार्थोंके त्यागके प्रति जब इसी प्रकारकी बुद्धि हो जाय, तभी वास्तविक त्याग समझना चाहिये।

३–जबतक विषयोंमें वमनबुद्धि, मलबुद्धि, विषबुद्धि, हेयबुद्धि नहीं है, तबतक विषयोंका त्याग मनसे नहीं होता। वहाँ हम त्याग करनेका 'स्वाँग' करते हैं, वास्तविक त्याग नहीं होता।

४–शरीरका आराम, मान-बड़ाई, नामकी ख्याति आदि भी विषय हैं और इनके त्यागके प्रति भी मनमें गौरवबुद्धि रहती है। अतएव त्यागकी वस्तु है—'विषयोंमें गौरवबुद्धिकी मान्यता'।

५–ज्ञान, वैराग्य, भक्तिकी भित्ति है—वैराग्य। जबतक विषयोंमें राग है, तबतक ज्ञान, वैराग्य, भक्ति–प्रेमकी प्राप्ति असम्भव है।

६–विषय-विराग तबतक असम्भव है, जबतक जगत्के भोगोंमें, भोग-पदार्थोंमें महत्त्वबुद्धि बनी है। दान देनेपर अभिमान होता है, संन्यास लेनेपर अभिमान होता है, सुख-आराम छोड़नेपर अभिमान होता है, पर यदि विषयोंमेंसे गौरवबुद्धि निकल जाय—उल्टे उनके प्रति हेयबुद्धि हो जाय—तो उनका त्याग स्वाभाविक होता है। घरमेंसे साँपको पकड़कर बाहर करनेमें क्या कभी अभिमान होता है ?

७–हम जो-कुछ पढ़ते, समझते, सुनते, कहते, करते हैं, उन सबका उद्देश्य हो कि हमारा जीवन साधनामय बन जाय अर्थात् हमारे द्वारा किसीकी निन्दा न हो, परचर्चा न हो, किसीके साथ बुरा बर्ताव न हो; हम सर्वत्र भगवान्को देखें और अखण्ड भजन करें।

८–जीभसे बड़े अनर्थ होते हैं। बोलना यदि मनुष्यके वशमें हो जाय, वाणीपर यदि मनुष्यका नियन्त्रण हो जाय तो वह बहुत-सी बुराइयोंसे सहज ही बच सकता है। अधिक बोलनेवाला व्यक्ति असत्य, परचर्चा, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा आदिसे प्रायः नहीं बच सकता। झूठ बोलना, कटु बोलना, दूसरेके मनमें घबराहट पैदा हो, ऐसी बात बोलना—ये सब जिह्वाके दोष हैं।

जहाँतक बने, मौन रहें। मौनमें बहुत-से लाभ हैं—जैसे (१) असत्यसे रक्षा होती है, (२) कटुवाणीसे बचाव होता है, (३) विवाद नहीं होता, (४) पीछे पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता, (५) बात पल्ले नहीं बँधती, (६) समयका दुरुपयोग नहीं होता, (७) वाणीका व्यर्थ व्यय नहीं होता, (८) वाणीमें सात्त्विक शक्ति बढ़ती है, (९) किसीसे क्षमा नहीं माँगनी पड़ती, (१०) मानसिक शान्ति बनी रहती है, (११) पीछेसे अपनी हँसी नहीं होती, (१२) लोग द्रोह-ईर्ष्या नहीं करते, (१३) विवेक बढ़ता है और अविवेक छिपा रहता है, जो बढ़नेकी गुंजाइश न रहनेसे नष्ट होता रहता है।

९–जिह्वाके दोषसे बचनेके लिये यह आवश्यक है कि हम अधिक समयतक तो मौन ही रहें और कम-से-कम इस प्रकारकी प्रतिज्ञा अवश्य कर लें कि अनिवार्य हुए बिना बोलेंगे ही नहीं और वह भी आवश्यकताभर, अधिक नहीं और वह भी अच्छी तरह सोच-विचार कर, जहाँ-तहाँ, जैसे-तैसे नहीं। दूसरे, यह निश्चय करें कि वाणी भगवान्का नाम लेनेके लिये मिली है, अतएव उसको बराबर भगवान्का नाम लेनेमें लगाये रखना है। आवश्यकता होनेपर कम-से-कम बोलकर पुनः भगवान्का नाम लेना आरम्भ कर देना है।

१०–वे लोग सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं, जिनको बहुत कम बोलना पड़ता है और जो निरन्तर भगवान्का नाम लेते हैं।

११–परचर्चासे बचनेके कुछ सरल उपाय ये हैं—

क–परचर्चा करनेवाले व्यक्तिको कह दें 'भैया ! दूसरी बात करो।'

ख–उसे प्रेमपूर्वक समझा दें—'भैया ! इस प्रकारकी चर्चा करनेमें लाभ नहीं है।'

ग–अपनी ओरसे दूसरी बात छेड़नेका प्रयत्न करें।

घ–सावधानीसे कोई बहाना बनाकर अपने वहाँसे उठ जायँ।

ङ–सामनेवालेकी बात सुनें ही नहीं; अपने मनको दूसरी ओर लगानेका प्रयत्न करें। सुननेवाला मनसे सुनना बंद कर दे तो सुनानेवाला अपनेसे बंद हो जायगा। उसे अपनी बातका समर्थन नहीं मिलेगा और वह स्वतः वहाँसे उठकर चला जायगा।

च–जो बात वह कहे, सुन लें, पर उत्तर देनेमें इतनी सावधानी बरतें कि बात आगे बढ़े ही नहीं, उसका वहीं विराम हो जाय।

१२–जहाँतक बने परस्परके वार्तालापमें दूसरेकी चर्चा आवे ही नहीं; आवे तो उसे प्रोत्साहन न दे। चर्चा आवे तो किसीके सच्चे सद्गुणोंकी ही आवे। कहीं दूसरेके दोषोंकी चर्चा आ जाय तो उसे कदापि बढ़ने न दे, अग्निमें घी न डाले। स्वयं तो कभी दूसरेकी बुराई सोचे ही नहीं।

१३–प्रातःकाल उठनेसे रात्रिमें सोनेतक जीभसे निरन्तर भगवान्‌का नाम आता रहे—इसकी पूरी चेष्टा रक्खें। इससे अपने-आप बोलना कम हो जायगा और परचर्चाको अवकाश नहीं मिलेगा। भगवान्‌का नाम न भूले, भूल जाय तो इसके लिये वेदना हो।

१४–भजनमें सम्पत्तिबुद्धि, धनबुद्धि होनी चाहिये, तब वह सरलतासे होता है।

१५–भगवान् सर्वत्र हैं; हमारा भला किसमें है, यह वे अच्छी प्रकार जानते हैं; उनसे भूल नहीं होती; वे सर्वशक्तिमान् हैं—सब-कुछ कर सकते हैं और वे हमारे सुहृद् हैं। हमारा भला वे ही करना चाहते हैं। अतएव उनकी प्रसन्नताके लिये उनके अनुकूल कर्म करते हुए अपनेको सर्वथा उनपर छोड़ दो।

१६–जहाँ भगवान्‌का स्मरण है—वहाँ वैकुण्ठ है। हम भगवान्‌का स्मरण करते रहें, फिर नरक कहीं है ही नहीं। सर्वत्र दिव्य भगवद्धाम है।

१७–भगवान्‌की मधुर-मधुर स्मृतिमें मन सदा डूबा रहे—यह चाह बहुत ही उत्तम है और ऐसी चाह भगवत्कृपासे होती है। जिसके मनमें यह चाह है, समझना चाहिये कि उसपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है।

१८–मनुष्य अपने साधन या सीमित प्रेमसे प्रभुको नहीं पा सकता। प्रभुकी प्राप्ति तो प्रभुकृपासे ही होती है और वह प्रभुकृपा सबपर है—इस सत्यपर विश्वास करो और भगवान्‌में यथासाध्य खूब प्रेम करो। प्रेममें सदा कमी दिखायी देना ही प्रेमकी उत्कृष्टता है।

१९–हमपर भगवान्‌की असीम कृपा है; हम जितनी मानें, उसमें भी बहुत अधिक है। आवश्यकता इसकी है कि हम भगवान्‌की अहैतुकी अनन्त कृपापर विश्वास करें। कहीं भी रहना हो, सर्वत्र भगवान् हैं। वे जहाँ रक्खें, वहीं रहनेमें आनन्द मानें और सदा-सर्वदा उनके मङ्गल-विधानके प्रति संतुष्ट रहें।

२०–मनुष्य तो बालूकी भीत है, चाहे जब ढह जाय। भरोसा तो नित्य, सत्य, सनातन, सच्चिदानन्दघन, परम प्रेमी, परम कारुणीक, ऐश्वर्य-माधुर्य-सौन्दर्य-सौशील्य-सौहार्दके समुद्र श्रीभगवान्‌का ही करना चाहिये। उन्हींका आश्रय लेना चाहिये और उन्हींके पावन चरणारविन्दका अपनेको नित्य चञ्चरीक बना देना चाहिये।

२१–हमारा संतके साथ सम्पर्क है, हम संतकी सेवा करना चाहते हैं, तो यही करें—चिन्ता छोड़ दें, मनसे विषादको दूर कर दें, प्रभुपर विश्वास रखकर उनका मधुरतम स्मरण करते रहें। इतना करें तो यह संतकी वास्तविक सेवा होगी।

२२–अन्धकारसे कभी प्रकाश मिला करता है? विषसे कभी अमृतकी प्राप्ति होती है? नहीं, इसी प्रकार आत्महत्या-से कभी परम शान्ति नहीं हो सकती। अतएव आत्महत्या-का विचार कभी भूलसे भी मनमें नहीं आना चाहिये। आत्महत्या सचमुच महापाप है।

२३–'स्वस्थ'का अर्थ है, 'स्व'में स्थिति-आत्मामें स्थिति। गीताके चतुर्दश अध्यायमें गुणातीतके प्रसंगमें भगवान्‌ने 'स्वस्थ' शब्दका प्रयोग किया है। जो संसारमें स्थित है, भगवान्‌में नहीं, वह सदा ही 'अस्वस्थ' है और जो संसारमें स्थित न होकर भगवान्‌में स्थित है, वह शरीर कैसे ही रहे, रहे या न रहे, सदा ही 'स्वस्थ' है।

२४–अपनी साधनाकी बातको—अपने भावको सदा छिपाकर रखना चाहिये। सावधान रहना चाहिये कि वह किसीपर प्रकट न हो जाय। भगवत्प्रेम वही महत्त्वपूर्ण होता है, जो छिपा रहता है। जो दिखाया जाता है, वह तो दम्भ होता है।

२५–घरवाले या कोई भी पापकी बात कहें तो उनकी बात न मानें; क्योंकि पाप करनेकी सम्मति देनेवाला भी पापका भागी होता है। पर मर्यादाकी रक्षाके लिये घरवालोंके नियन्त्रणमें रहना तो सौभाग्यकी बात है। पापकी बात बापकी भी न माने; भली बात बैरीकी भी मान ले।

२६–मर्यादा-रक्षाके लिये नियमोंका बन्धन आवश्यक है। यह पराधीनता ही स्वाधीनता है। मन-इन्द्रियोंकी गुलामी पराधीनता है; मन-इन्द्रियोंको नियमोंके अधीन रखकर उनको वशमें रखना पराधीनता नहीं, स्वाधीनता है।

२७–भगवत्प्रेम बिना वैराग्यकी भूमिकाके प्रकट नहीं होता।

२८–जगत्का जो राग है, जगत्के पदार्थोंमें हमारी जो आसक्ति है, उनमें हमें जो रस आ रहा है—यह हमारे मनकी कल्पनामात्र है और यही मनकी कालिमा है। वैराग्य ही ऐसा साधन है, जिसके द्वारा मनकी यह कालिमा धुल जाती है।

२९–वैराग्यमें एक बड़ा सुन्दर-सा सुख है, जिसकी किसी भी अवस्थामें हमारे मनमें कल्पना भी नहीं आ सकती। हम विषयोंमें सुख खोजते हैं, वैराग्यवान् अपनेमें सुख अनुभव करता है। विषयोंमें सुख मानना तो शरबतके बदले तेजाब पीना है।

३०–भगवत्प्रेम और विषय-विराग वास्तवमें एक ही चीज है।

३१–हमारे मनरूपी घरमें सामान—कूड़ा-करकट इकट्ठा करनेवाली हैं—इन्द्रियाँ। अतएव इन्द्रियोंको सदा शुभमें लगाये रखना चाहिये, जिससे मनमें शुभका संग्रह हो।

३२–आत्माकी मूक स्वीकृतिसे ही इन्द्रियाँ बुरे मार्गपर जा रही हैं। आत्मा यदि बलपूर्वक इन्द्रियोंको रोक दे तो इन्द्रियाँ बुरे मार्गपर नहीं जा सकतीं।

३३–जबतक हम अपनी इन्द्रियोंको वशमें नहीं करते, तबतक हम पद-पदपर परतन्त्र हैं। जहाँ-जहाँ हमारी इन्द्रियाँ हमें ले जायँगी, वहाँ-वहाँ हमें जाना पड़ेगा। अतएव सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करनेकी आवश्यकता है।

३४–बुरी चीजको किसी भी मूल्यपर न ले। बहुत बड़ा लाभ होता दिखायी दे, तब भी बुरी चीजको न ले। बुरी चीज आयी कि मनुष्यका आचरण, जो सबसे ऊँची वस्तु है, नष्ट हुआ। जितने भी महापुरुष हुए हैं, उन्होंने किसी भी प्रलोभनके सामने बुरी चीजको ग्रहण नहीं किया।

३५–आजकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि जितने आदर्श हैं, हम दूसरोंसे उनकी आशा करते हैं, स्वयं उन्हें अपनाना नहीं चाहते; पर होना यह चाहिये कि जितना त्याग, जितना प्रेम, जितनी सेवा, जितनी अनुकूलता हम दूसरोंके लिये कर सकें, उतनी हमें करनी चाहिये।

३६–उपदेश करना बहुत दायित्वका कार्य है। उपदेश होना चाहिये पहले अपने लिये। पर आजकी स्थितिमें उपदेश देना प्रायः पेशा हो गया है; वह दूसरोंके लिये ही होता है। इसीसे उसका प्रभाव नहीं होता।

३७–वक्तामें तीन बातें होनी चाहिये—(१) वह जो बात कहे, वह शास्त्र एवं संतोंके वचनोंके अनुसार सत्य हो। श्रोताओंकी रुचिके अनुसार वह उसमें परिवर्तन न करे। (२) वह जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करे, उसका आचरण उनके अनुरूप हो एवं (३) वह उपदेशका कुछ बदला न चाहता हो, अर्थात् उपदेश स्वार्थप्रेरित न हो। इस प्रकारके वक्ताका स्वाभाविक ही प्रभाव पड़ता है, चाहे वह विशेष पढ़ा-लिखा न हो।

३८–जो व्यक्ति दूसरोंके लिये अच्छा बनना चाहता है, वह अच्छा नहीं बन पाता; वह ढोंगी हो जाता है। वह उपदेशकी दूकान लगाता है, स्वयंके जीवनमें उपदेशको चरितार्थ करनेकी चिन्ता उसे नहीं रहती। इससे उसके जीवनका निर्माण नहीं होता, जीवन नष्ट हो जाता है। अतएव दूसरोंके लिये अच्छा न बनकर स्वयंके लिये अच्छा बनना चाहिये।

३९–जिसके जीवनसे, क्रियासे अपने-आप उपदेश होता है, वह उपदेश करनेका अधिकारी है। वास्तवमें उसे उपदेश करना नहीं पड़ता, उससे अपने-आप उपदेश होता है। युधिष्ठिर महाराजका जीवन इसका उदाहरण है।

४०–अपनी बुराई सहन न हो, कोई भी बुरा काम

शरीरसे, वाणीसे, मनसे न बने—इसकी पूरी चेष्टा हो और भूलसे बन जाय तो उसके लिये बड़ा परिताप हो, रोना आवे और भगवान्से प्रार्थना हो कि 'नाथ ! अब आगे ऐसा न हो।' तो समझना चाहिये कि हमारी उन्नति हो रही है।

४१–जरा-सी भूल, जरा-सा पाप, जरा-सा स्खलन भी खलना चाहिये और उसके लिये मनमें दुःख होना चाहिये कि यह क्यों होता है। अपनी जरा-सी भूलको भी हृदयसे तो कभी स्वीकार करे ही नहीं, वाणीसे भी उसका समर्थन न करे; भूलपर—पापपर दया न करे, उसे न छिपावे।

४२–अपनेको कभी ऐसी परिस्थितिमें न डाले कि विकार बढ़े। काम, क्रोध आदि विकारोंका शरीरके बाहर निकलनेसे पहले ही दमन कर देना चाहिये। बुराईके साथ मैत्री परिणाममें सर्वनाश करनेवाली होती है। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि क्रोध आदिको अंदर-ही-अंदर दबा देना हानिप्रद है; पर यह मान्यता सर्वथा भ्रामक है। विवेकसे, नियमसे, संयमसे—चाहे जिस प्रकार विकारोंको दबा देना चाहिये, जिससे वे अंदर-ही-अंदर शान्त हो जायँ। आगमें ईंधन न पड़े तो आग शान्त हो जाती है; आगमें ईंधन पड़नेसे वह शान्त नहीं होती, बढ़ती है।

४३–जो क्रोधके बदले क्षमा, प्रेम, सद्भाव देते हैं, वे बड़ा उपकार करते हैं—क्रोधीका, अपना, जगत्का।

४४–मनुष्यका जीवन कितना क्षणभङ्गुर है कि कब चला जायगा, कुछ ठिकाना नहीं। कमलके पत्रपर पानीकी बूँद पड़ी हो, जरा-सा हवाका झोंका लगा कि वह खिसक पड़ती है। ऐसा ही यह जीवन है—क्षणभङ्गुर। मृत्युका कुछ ठिकाना नहीं, पर जीवनमें इतना व्यामोह है, मानो हमेशा जीना है। इस स्थितिमें सुधार होना चाहिये।

४५–मनुष्यको मृत्युके लिये हमेशा तैयार रहना चाहिये, यहाँका सब निपटाकर। शरीरसे कभी किसीका सब निपटा नहीं है; मनसे ही निपटाना पड़ता है। अतः मनसे सब निपटाकर जब वहाँका बुलावा आवे, सहर्ष चल दे।

४६–मृत्यु आनेसे पहले-पहले हमारी चित्तवृत्ति भगवान्में लग जाय, भगवान्का भजन होने लगे—प्राप्ति हो, न हो, हम उस मार्गपर चलने लग जायँ। जगत्के सब काम इस कामके सामने गौण हैं। यह काम हुआ और दूसरा काम एक भी नहीं हुआ तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है। यह होते हुए और काम हुए तो उत्तम है, पर यह न होकर बड़े-से-बड़ा काम हुआ तो समझना चाहिये कि कुछ भी नहीं हुआ, सब व्यर्थ गया।

४७–शोक ममत्वसे होता है। अपनी मानी हुई चीज चली जायगी, चली गयी, इसीसे शोक होता है; यदि वह चीज अपनी मानी हुई नहीं है तो उसके चले जानेसे उपेक्षा होती है। यदि वह अपने द्वेषकी वस्तु है, तो उसके चले जानेपर हर्ष होता है। अतएव शोकसे छुटकारा पानेका उपाय जगत्के पदार्थोंसे अपने ममत्वको हटा लेना है।

४८–धन, पुत्र, अधिकार आदिके मिलनेमें पूर्वकर्म हेतु हैं; पर भगवान्में मन लगनेमें, भजन होनेमें पूर्वकर्म हेतु नहीं हैं। प्रबल इच्छा और पुरुषार्थ ही इनमें हेतु हैं। अतएव प्रयत्नपूर्वक भजनमें लगना चाहिये।

४९–भगवान्का मिलन निश्चितरूपमें होता है और वह इच्छा होनेपर सम्भव हो जाता है; भगवान् पूरे मिलते हैं, अधूरे नहीं; भगवान्के प्राप्त होनेपर अभावका अनुभव नहीं रहता, इससे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है; भगवान्को प्राप्त करनेकी साधनामें किसी भी प्रकारके पापको स्थान नहीं; इससे अन्तकालमें भगवत्-स्मृति स्वाभाविक रहेगी और अन्तकालमें भगवत्-स्मृति रहनेसे नरकोंकी यातनाओंका प्रश्न ही नहीं रहेगा। अतएव भोगोंकी प्राप्तिको प्रारब्धके भरोसे छोड़कर भगवान्को प्राप्त करनेकी साधनामें लग जाना चाहिये।

५०–मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंका भगवान्के साथ ऐसा सम्पर्क बना लेना चाहिये कि जब मृत्यु आवे तो उसे दीखे कि 'इसके मनमें भगवान् भरे हैं, इसकी बुद्धिमें भगवान् बैठे हैं।'

५१–जितना जीवन है, उतना पर्याप्त है। इतने वर्षोंतक इस प्रकार साधना की जाय, इतना जप किया जाय, अमुक तपस्या की जाय—भगवान्की प्राप्तिमें यह आवश्यक नहीं है। भगवान्की प्राप्तिमें आवश्यक है—भगवान्को प्राप्त करनेकी तीव्र एकान्त इच्छा और तीव्र एकान्त इच्छासे युक्त भजन। फिर चाहे एक घड़ी शेष हो, चाहे दो घड़ी, भगवान्की प्राप्ति हो ही जाती है।



गोवंशकी रक्षा

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

गोवंश भारतीय धर्म, कर्म, संस्कृति, सभ्यता और अर्थव्यवस्थाका मूलमन्त्र है

गायका दुग्ध, दधि, घृत, तक्र स्वास्थ्यकारक एवं सर्वरोग-निवारक है। गोमूत्रमें गङ्गा तथा गोमयमें लक्ष्मीका निवास है। गोमूत्र-गोबरसे अनेक उदर, चर्म, रक्तादिके रोगोंका निवारण होता है। अनुपम खादनिर्माणका भी गोमूत्रादि दिव्य साधन है। पञ्चगव्यपान देहके त्वक्-अस्थिगत दोषोंके निवारण एवं आत्मशुद्धिका परम साधन है। प्रत्येक तपोव्रत-यागादिके पूर्व यह अत्यावश्यक है। किसी भी देवपूजा-प्रतिष्ठा-में गो-दुग्धादि पञ्चामृत अनिवार्य है। हिंदू-संस्कृतिके मूल प्रत्येक संस्कारमें गोदान होना चाहिये। वैतरणीतरणार्थ गोदान तथा श्राद्धमें वृषोत्सर्ग—ये हिंदुओंके महत्त्वपूर्ण कर्तव्य हैं।

गायके खुर, शृङ्ग, पुच्छ तथा रोम-रोममें अपरिगणित देवता, कुलपर्वत, तीर्थ विद्यमान होते हैं। अन्य मन्दिरोंकी परिक्रमामें सीमित देवताओंकी परिक्रमा होती है, किंतु गायकी परिक्रमामें सभी देवताओं, तीर्थों, कुलपर्वतोंकी परिक्रमा हो जाती है।

वेद, रामायण, मन्वादि धर्मशास्त्रके अनुसार भारतीय संस्कृति यज्ञ-भावनासे ओतप्रोत है। यज्ञमें हवि और मन्त्रका ही प्राधान्य होता है। दुग्ध, दधि, घृतादि हवि गौमें और मन्त्र ब्राह्मणोंमें निहित होते हैं। अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् राम गो-ब्राह्मणके रक्षणार्थ ही नंगे पाँव वन-वनमें भटके और उनके चरणारविन्द दण्डक-कण्टक-विद्ध हुए। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दने भी श्रीमद्वृन्दावनधाममें नंगे पाँव गोचारणका व्रत लेकर गोवंश-का सर्वोत्कृष्ट माहात्म्य प्रख्यात किया।

गोवंशके नाशसे सबका नाश ध्रुव है

इसी दृष्टिसे दिलीप, मांधाता, नहुष आदि नरेश उसकी रक्षाके लिये बद्धपरिकर और प्राणाहुति-अर्पणके लिये सदा प्रस्तुत रहते थे। दुर्भाग्यसे इस देशमें शताब्दियोंसे गोहत्या-का काला कलङ्क चल रहा है। इसको रोकनेके लिये अनेक सत्पुरुषोंने प्रयास किया। फलस्वरूप कई बार मुगल बादशाहों-ने भी शाही फरमानोंद्वारा गोहत्यापर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया था, परंतु कालक्रमसे यह फिर भी चलता ही रहा!

गोरक्षार्थ पिछला आन्दोलन

७ नवम्बर सन् ६६ को दिल्लीमें लोकसभाके सामने विशाल प्रदर्शन हुआ, जिसमें दस लाखसे भी अधिक लोग शामिल हुए थे। अनेक लोगोंने भीषण अनशन-व्रत किया। पुरीपीठाधीश्वर शंकराचार्यका तो ७३ दिनतकका अनशन चला। सरकार एवं सरकारी प्रतिनिधियोंके विश्वास दिलाने-पर शंकराचार्यने अपना अनशन तोड़ा। आश्वासनके अनुसार सरकारने बारह आदमियोंकी एक कमेटी बनायी थी, उसमें 'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति'से भी तीन व्यक्ति लिये गये थे। परंतु समितिके अध्यक्ष तथा दूसरे सरकारी मेम्बरोंने गोहत्यानिरोधके विपरीत अपना रवैया बनाये रखा, जिससे बाध्य होकर 'सर्वदलीय महाभियान'के तीनों सदस्योंको वहाँसे हटना पड़ा। आखिर समितिको फिरसे वैशाख शुक्ल तृतीया, ८ मई ७० से आन्दोलन करनेकी घोषणा करनी पड़ी और दिल्लीमें सत्याग्रह आरम्भ कर दिया गया। अब जनताको तन-मन-धनसे उसे सफल बनाना चाहिये।

गोहत्याके पक्षकी दलीलें

गोहत्याके पक्षकी दलीलें निम्नलिखित हैं—

१—गोहत्या सम्पूर्णरूपसे बंद कर दी जायगी तो देशके गोमांसभक्षी अल्पसंख्यक मुसल्मान, ईसाई आदिको मांस-प्राप्तिमें बाधा पड़ेगी।

२—मारे हुए जानवरोंसे मिलनेवाले मजबूत चमड़ोंके अभाव-में जूता, बूट तथा अन्य उपयोगी चर्म-वस्तुओंकी प्राप्ति-में बाधा पड़ेगी।

३—हर एक बड़ी मशीनके चलानेमें बड़े चमड़ेके पट्टे अपेक्षित होते हैं। उनके बिना सभी मशीनें बंद हो जायँगी।

४—अनेक चमड़ोंके कारखाने बंद हो जायँगे एवं उनके कर्मचारी बेकार हो जायँगे।

५—गायों-बैलोंके रक्त, चर्बी तथा अँतड़ियोंसे अनेक ओषधियाँ बनती हैं। गोहत्या-बंदीसे उक्त औषध-निर्माणों तथा उनके व्यापारोंमें घाटा पड़ेगा।

६.—गायों-बैलोंकी संख्या-वृद्धिसे उनके लिये चारेकी समस्या उठ खड़ी होगी, जिसके फलस्वरूप उपयोगी-अनुपयोगी सब प्रकारके गायों-बैलोंका नाश होगा। अतः जैसे उपयोगी पौधोंकी रक्षा एवं वृद्धिके लिये अनुपयोगी पौधोंका सफाया अनिवार्य होता है, वैसे ही उपयोगी गायों-बैलोंकी रक्षाके लिये अनुपयोगी गायों-बैलोंका सफाया अनिवार्य है।

७—गायों-बैलोंके पालन, संवर्धन तथा नस्ल-सुधारका ही प्रयत्न करना उचित है, गोवध-निषेधका नहीं।

८—गोहत्या-बंदी कानूनसे मुसल्मानोंके धर्म एवं जीविकापर हस्तक्षेप होगा।

पक्षकी दलीलोंकी निस्सारता

उपर्युक्त तर्कोंपर विचार करनेसे उनकी निस्सारता स्पष्ट हो जाती है, गोवंशका रक्षण एवं पालन सभीके लिये लाभदायक है। हिंदू, मुसल्मान, ईसाई—सभीके लिये दूध, दही, मक्खन, मठ्ठा सुलभ होगा। इससे सभीका स्वास्थ्य समुन्नत होगा। एक गायके मांसद्वारा एक-दो दिन दस-पाँच आदमियोंको भोजन मिलता है, परंतु उसी गायके जीवित रहनेपर उससे कई गाय एवं कई बैल प्राप्त होते हैं। स्वास्थ्यकर दूध, दही, मक्खन, मट्ठा—वर्षोंतक प्राप्त होते रहते हैं। कीमती खाद तथा बैलोंद्वारा उत्तम अन्नकी भी प्राप्ति होती है, जिसके बिना केवल मांससे प्राणीका जीवन ही नहीं चल सकता। अतः सर्वजनहिताय, अधिक स्वात्महिताय भी मांस खानेका प्रलोभन छोड़कर गोपालन ही श्रेष्ठ है, गो-भक्षण नहीं। इसके अतिरिक्त जब गोवंश सर्वजनहितकारी होनेके साथ-साथ भारतीय राष्ट्रकी संस्कृति, धर्म, सभ्यता तथा सम्मानका केन्द्रबिन्दु है, तब उसके मांस खानेका विचार ही राष्ट्रीयता एवं मानवता-विरोधी है।

प्राचीनकालमें कुछ राक्षसोंका नरमांस भी भोजन था, तब क्या उनके भोजनकी व्यवस्थाके लिये हमें मानव-हत्याकी अनुमति देनी चाहिये? क्या मुसल्मान बन्धु भी यह अङ्गीकार करेंगे?

द्वितीय, तृतीय तर्कपर विचार करनेपर वह भी नगण्य ही सिद्ध होता है। आवश्यकता आविष्कारकी जननी होती है। काष्ठादि इन्धनोंकी कमी होनेपर पत्थरके कोयलेंका अन्वेषण हो गया। उसकी भी कमी महसूस होनेपर पेट्रोल और फिर डीजलका आविष्कार हुआ। मोटरोंके लिये रबड़के टायरोंका आविष्कार हो गया। इसी तरह स्वतः मरे हुए पशुओंके चमड़ेमें ही कोमलता एवं मजबूती लायी जा सकती है, जिससे जूते, बूट आदिका काम चल ही सकता है। पट्टेका भी काम निकाला जा सकता है। रबड़के भी मजबूत पट्टे तथा अन्य रासायनिक वस्तुओंसे वैसी वस्तुओंका निर्माण हो सकता है। जब गायों-बैलोंके जीवनका सर्वाधिक उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट उपयोग हो सकता है, तब उक्त क्षुद्र कार्योंके लिये उनकी हत्याको प्रोत्साहन देना मूर्खताके साथ-साथ कृतघ्नता भी होगी।

चतुर्थ तर्क भी निस्सार है, कारण, अङ्गके लिये अङ्गी नहीं होता, किंतु अङ्गीके लिये अङ्ग होता है। प्रसिद्ध है—

'अंजन कहा आँख जेहि फूटै।'

पलंगके लिये सोनेवाला नहीं होता, किंतु सोनेवालेके लिये पलंग होता है। जिस शैतान पलंगके योग्य सोनेवालेको खींचना-तानना या काटना-पीटना पड़े वह पलंग त्याज्य ही है। कितनी भी सुन्दर सुगन्धित हीरों, मोतियों एवं पुष्पोंकी माला क्यों न हो, पर जब उसके पहनानेके लिये पहननेवालेका सिर छीलना पड़े तो वह माला त्याज्य ही होती है। जब गाय-बैलकी हत्याका औचित्य सिद्ध हो, तभी उसके लिये कसाईखाने एवं उसके चमड़ोंके उपयोगके लिये कारखानोंकी उपयोगिता सिद्ध होती है। यह नहीं हो सकता कि कसाईखानों एवं चमड़ोंके कारखानोंकी सार्थकता या उनके कर्मचारियोंकी बेरोजगारी दूर करनेके लिये गाय-बैलोंको कटाया जाय।

पाँचवाँ तर्क भी इसी प्रकारका है। गाय-बैलके द्वारा प्राप्त खेतीकी सुविधा बैल एवं खादका लाभ परमावश्यक अन्नका साधन है। दूध, दही, मक्खन स्वयमेव एक महान् औषध हैं। अतः उसके रक्त-चर्बी आदिसे औषध-निर्माण अनावश्यक ही है। वैसे भी आजकल जान्तव अङ्गोंकी अपेक्षा हर-एक ओषधिका वनस्पतियोंसे निर्माण होने लगा है। अतः उन कारखानोंको चालू रखनेके लिये भी गाय-बैलकी हत्या जारी रखना उचित नहीं है। उपयोग तो मनुष्योंके रक्तों, अस्थियों एवं अँतड़ियोंका भी हो सकता है, पर क्या बहुमूल्य मानवजीवनकी रक्षाके लिये अन्य लाभोंके प्रलोभनोंको रोका नहीं जाता है? बस, इसी तरह बहुमूल्य गोवंशकी हत्यासे होनेवाले सभी लाभोंके प्रलोभनोंको नगण्य समझना चाहिये।

छठा तर्क भी इसी प्रकारका है। मनुष्योंके लिये अधिक अन्न उपजानेका ही प्रयत्न किया जा रहा है। जब मनुष्योंके लिये अन्न उपजेगा तो पशुओंके लिये चाराका उपजना भी अनिवार्य ही है; क्योंकि बिना चाराके अन्न पैदा ही नहीं होगा। गेहूँ, जौ, ज्वार, बाजरा, धान—कोई भी अन्न बिना भूसा, बिना करबीके नहीं उत्पन्न होते। अधिक अन्न उपजानेकी योजनाके साथ ही अधिक चारा उपजानेकी योजना भी आ ही जाती है। अभी तो करोड़ों रुपयोंकी खली, जो गायों-बैलोंका चारा–आहार है, बाहर भेजी जा रही है। यदि घरमें ही चारेकी कमी है तो खली बाहर क्यों भेजी जाती है ?

जो समझते हैं कि खली, गुवारकी फली आदि वस्तुएँ बाहर भेजकर उपयोगी अन्य बहुत-सी चीजें वहाँसे मँगानी आवश्यक हैं, अनुपयोगी पशुओंको कतल करके चारेकी समस्या भी हल कर लेना ठीक है, उनकी बुद्धिपर आश्चर्य ही करना पड़ेगा। ऐसे लोग यह भी सोच सकते हैं कि लूले, लँगड़े, बूढ़े औरत-मर्दोंको खत्म करके नौजवान औरत-मर्दोंके अन्न-वस्त्रकी समस्याको सुलझाना चाहिये। ऐसे ही लोग परिवार-नियोजन, वन्ध्याकरण, नपुंसकीकरण-जैसे जघन्य कृत्योंका समर्थन करते हैं। ऐसे ही लोग गर्भपात-द्वारा भी जनसंख्या घटानेके फेरमें पड़े हैं। वस्तुतः यह सब दानवता है, मानवता नहीं। ऋषियों-महर्षियोंके देशमें, बुद्ध, महावीर, गाँधीकी अहिंसा-साधनाकी भूमिमें ऐसे विचारोंको कोई स्थान नहीं है।

इसी प्रकार बहुत-सा पशुओंका चारा, घास, पुआल, भूसा आदिका पार्सलों एवं शीशे, काँच आदिके बरतनोंकी सुरक्षाकी दृष्टिसे दुरुपयोग किया जाता है। ऐसे दुरुपयोगोंको रोका जाय। खली, गुवारफली आदिकी निकासी बंद की जाय। साथ ही सड़कों एवं रेलकी पटरियोंके दोनों तरफकी भूमिमें भी उपयोगी घास उपजायी जा सकती है। बहुत-से वृक्षोंकी पत्तियाँ भी चारेके काममें आ सकती हैं। सर्वथा विचारकी कमीके कारण गायों-बैलोंके कटानेकी बात सोचना शुद्ध अनभिज्ञता ही है।

सातवाँ तर्क भी अविचारित-रमणीय है। केवल गोपालन-गोसंवर्धन मात्रसे गोरक्षण नहीं हो सकता; जैसे बकरा-बकरी-का पालन-संवर्धन केवल खानेके लिये ही होता है। उसी तरह जो गोवंश-हत्यापर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते, उनके यहाँ गोपालन भी केवल भोजनका ही साधन होगा। अतः गोपालनके साथ ही गोहत्यानिरोधपर भी बल देना अत्यावश्यक है। लोग कहते हैं कि 'यदि हिंदू गोपालन-गोसंवर्धनमें लग जायँ और गो-विक्रय न करें तो अपने-आप ही गोहत्या बंद हो सकती है।' पर वे यह क्यों भूल जाते हैं कि गाय केवल हिंदूके ही पास नहीं है, मुसल्मान आदिके पास भी तो गायें हैं ही। अतः 'गोहत्या-निरोध-कानून'के बिना पूर्ण गोहत्या बंद नहीं हो सकती। जैसे आत्महत्या, सुरापान, भगिनी-विवाह आदिका व्याख्यान, उपदेश, लेख आदिके द्वारा निषेध होनेपर भी कुछ लोग ऐसे जघन्य कार्योंमें भी प्रवृत्त हो सकते हैं, उन्हें रोकनेके लिये आत्महत्या-निरोधक आदि कानून आवश्यक होते हैं, उसी तरह 'गो-विक्रय-निषेध' प्रचार करनेपर भी कुछ लोग प्रलोभनवशात् विक्रयमें प्रवृत्त हो सकते हैं। शुगर-मिलोंका विस्तार होता जाय, गन्नोंकी कीमत बढ़ा दी जाय और गन्ने मिलोंमें न भेजे जायँ, किंतु कोल्हूमें पेरकर उनसे गुड़ बनाया जाय—यह उपदेश देना जैसे सफल नहीं होता, वैसे ही जगह-जगह कसाईखाने खोल दिये जायँ और लूली-लँगड़ी-बूढ़ी गायोंकी भी कीमत बढ़ा दी जाय और फिर यह उपदेश किया जाय कि लूले, लँगड़े, बूढ़े गाय-बैल भी न बेचे जायँ, तो ऐसा उपदेश करना निरर्थक ही होता है।

लोभ-मोहके वश होकर जनता जो काम करती है, उसे ही रोकनेके लिये कानून बनानेकी आवश्यकता पड़ती है। इसी दृष्टिसे शराबबंदी आदि कानून बनाये गये हैं। गोहत्या तो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे अत्यन्त हानिकारक है। अतः उसके निरोधार्थ सम्पूर्ण गोवंश-हत्याबंदीका कानून होना ही चाहिये।

कहा जाता है कि 'बढ़ती हुई जनसंख्या और पशु-संख्याको देखते हुए परिवार-नियोजन अत्यावश्यक है। पशुओंमें लूपका प्रयोग तथा नसबंदीद्वारा वन्ध्याकरण या नपुंसकीकरण सम्भव नहीं। अतः उनकी समस्याका एक ही मार्ग बाकी बचता है।' परंतु यह भी गलत है। प्राचीनकालमें और आज भी पशु 'धन' माना जाता है। धनकी वृद्धिसे घबरानेकी आवश्यकता नहीं है। पशुओंका उचित पोषण होनेपर दूध, दही, मक्खन भारी मात्रामें मिलेगा, जिससे अन्नसंकट ही मिटेगा। खेतीके लिये बलवान् बैल प्राप्त होंगे ही। मनुष्योंमें भी संख्या घटानेका

प्रयास न करके 'अधिक अन्न उपजाओ' पर ही बल देना उचित होगा। परिवारनियोजनसे पाप-विस्तारके साथ राष्ट्रकी शक्ति भी क्षीण होती है। हाँ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमोंका विस्तार करके संयम, ब्रह्मचर्यद्वारा संख्या-वृद्धिपर नियन्त्रण करना अनुचित नहीं है।

कहा जाता है कि 'औद्योगिक क्रान्तिके युगमें प्राचीन ढंगसे हल-बैलकी खेती तथा गोबर-गोमूत्रकी खादसे काम नहीं चल सकता। ट्रैक्टरोंका विस्तार तथा रासायनिक खादोंसे ही बड़े पैमानेपर अन्न उपजाया जा सकता है। छोटे-छोटे खेतोंमें ट्रैक्टरोंसे खेती नहीं हो सकती। अतः वहाँ हल-बैलकी आवश्यकता है। पर आजका संसार व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्तिको समाप्त करके सबका समाजीकरण चाहता है। अतः राष्ट्रीयकरणद्वारा सारी व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति समाजकी हो जायगी, यह अनिवार्य है। फिर, फार्मिंग ढंगसे बड़े-बड़े प्लाटोंमें ट्रैक्टरोंद्वारा खेती होगी। रासायनिक कारखानोंसे रासायनिक खादें तैयार होंगी। अतः न तो खेत जोतनेके लिये बैलोंकी आवश्यकता होगी और न खादके लिये ही गायों-बैलोंकी आवश्यकता होगी तथा दूधका काम सफेद घोलसे चल ही जायगा। अतः चमड़ा, मांस, चर्बी आदिके लिये ही गायों-बैलोंका उपयोग होना उचित है।' परंतु ये विचार धर्म, अर्थ, काम तीनोंके ही विघाती हैं, मोक्षसे तो सर्वथा दूर हैं ही। संसारमें अर्थ एवं कामसे भी बड़ा धर्म है। अतएव अर्थ-काम ही सब कुछ नहीं है। आज भी समझदार लोग चरित्र एवं सदाचारका सर्वोपरि महत्त्व मानते हैं। आज भी ईमानदारी एवं गाढ़े पसीनेकी कमाईका धन डाका डालकर पाये हुए धनसे कहीं महत्त्व-पूर्ण समझा जाता है। किसीके वैध धनका अपहरण डाका डालनेके समान ही है। गाढ़े पसीनेकी कमाई या बपौती भूमि-सम्पत्ति तथा दान-पुरस्कारमें प्राप्त भूमि आदिका राष्ट्रीयकरण करना अनैतिकता ही है। आज भी डाका डालना दण्डनीय अपराध माना जाता है। निरपराध गाय-बैल-जैसे उपकारी-उपयोगी प्राणियोंकी हत्या भी जघन्य अपराध ही है। इन पापोंके फलस्वरूप अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी, भूकम्प आदि भीषण उपद्रवोंकी भरमार होगी, जिसका उपाय अभी भी वर्तमान विज्ञान नहीं कर सकता। इतने बड़े विशाल देशमें खेतीके लिये आठ करोड़ बैलोंकी अपेक्षा होती है। प्रतिवर्ष दो करोड़ बैलोंकी कमी पड़ती है। इनके स्थानपर सैकड़ों-अरबोंकी लागतके ट्रैक्टर अपेक्षित होंगे और अरबों रुपयोंके डीजल मरम्मतके लिये भी अरबों रुपये प्रतिवर्ष चाहिये। अभी भी लाखों ट्रैक्टरोंके होनेपर भी रूसमें सामूहिक खेती सफल नहीं हुई, अबतक रूस अपने देशके उत्पादित अन्नपर निर्भर नहीं हो सका है।

धर्म और स्वास्थ्य दोनोंका नाश

हल-बैलकी खेतीमें वह परेशानी नहीं होती है। मरते दमतक बैल खेत जोतता है और खाद देता है। अपनी कमाई चारेसे अपना पेट भर लेता है। रासायनिक खादोंसे कुछ सालोंतक अधिक अन्न पैदा होता है, पर अन्तमें खेतोंमें रेगिस्तानके हमले होते हैं और खेत दिवालिये हो जाते हैं। उन खादोंके डालनेसे खेतोंमें अधिक पानीकी आवश्यकता पड़ती है, जिसकी प्राप्तिमें पर्याप्त कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त, गायों-बैलोंकी हड्डियोंके पाउडर-रूप खादोंसे धर्म और स्वास्थ्य दोनोंका ही नाश होता है। नये-नये किस्मके कीड़ोंकी उत्पत्ति होती है। उन्हें नष्ट करनेके लिये हर सप्ताह जहरीली कीमती दवाइयाँ छिड़कनी पड़ती हैं। गोदामोंमें रखे हुए अन्नोंके द्वारा भी जहरीली गैसोंसे रक्षा करनी पड़ती है। ऐसे अन्न पेटमें भी जाकर अपरिगणित ढंगके रोगोंकी सृष्टि करते हैं और उन रोगोंके रोक-थामके लिये जहरीले इन्जेक्शन देने पड़ते हैं!

जितनी अर्थ-सम्पत्ति, धन एवं श्रमशक्ति ट्रैक्टरोंके बनानेमें, मरम्मतमें, डीजलमें, रासायनिक खादोंके निर्माणमें जहरीली औषधों एवं जहरीली गैसोंके निर्माण और प्रयोग करनेमें खर्च की जाती है, उससे कहीं कम ही खर्चमें गायों-बैलोंका पोषण-पालन, नस्ल-सुधार आदि सब कुछ सम्पन्न हो सकते हैं। पर्याप्त दूध, दही, मक्खन, घृत, बैल एवं खाद प्राप्त हो सकते हैं और गोवंश-सम्बन्धी सभी समस्याओंका समाधान हो सकता है। इस पक्षमें कीड़ोंके विस्तार एवं हमलेकी कोई समस्या नहीं उठेगी और न उनके नाशके लिये जहरीली औषधों, गैसोंकी ही जरूरत पड़ेगी। उत्तम निर्दोष अन्न तथा शुद्ध घृत-दुग्ध-प्राप्तिसे मनुष्योंका रोगरहित शुद्ध स्वास्थ्य बढ़ेगा। मनुष्योंके लिये भी अनेक जहरीली औषधोंकी अपेक्षा नहीं पड़ेगी। फिर भी, तथाकथित वैज्ञानिकों एवं अर्थशास्त्रियोंके मायाजालका नाम लेकर, गोहत्या चलाकर रक्त-मांस, चर्म-चर्बीका निर्यात करके डालर कमानेकी अतृप्त कामनाएँ शासकोंकी बुद्धिमें कुछ विचार आने ही नहीं देती हैं।

गोहत्याबंदी-आन्दोलनका पुनः प्रारम्भ और आन्दोलनका स्वरूप

अतः भारत राष्ट्र तथा उसके धर्म, संस्कृति, सभ्यताकी रक्षाके लिये, भारत सरकारके हितके लिये, सभी भारतीय कर्णधारों एवं विश्वके हितके लिये गोहत्या बंद होना अत्यावश्यक है। इसीलिये पुनः वै० शु० ३ तदनुसार ८ मई ७० से गोहत्या-बंदी-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। यह आन्दोलन शासकोंका मन बदलनेके लिये होगा और अहिंसात्मक होगा। सत्याग्रहियोंका कर्तव्य होगा कि वे भगवान्‌की आराधना-बुद्धिसे तपस्या करें और 'गोली' खाकर भी 'गाली' तक न देनेका दृढ़ नियम पालन करें। यह काम लाठी-डंडा, ईंट-पत्थरसे नहीं चल सकेगा। इसके लिये तो पूर्ण सत्य, अहिंसा एवं परमेश्वरकी उपासनापर ही पूरा बल लगाना चाहिये।

जनता जैसे लाखोंकी संख्यामें हरिद्वार-प्रयाग आदिके कुम्भोंमें एकत्रित होती है, उसी तरह लाखोंकी संख्यामें पूर्ण नियन्त्रित रहकर गोहत्या-बंदी-आन्दोलनमें भाग ले तो शीघ्रातिशीघ्र यह काम सफल हो सकता है। साथ ही गोपालन एवं गोसंवर्धनमें भी तत्परतासे प्रवृत्त होकर गौओंकी सुरक्षाका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। प्रतिदिन गोग्रासका नियम बनाना चाहिये। गोदुग्ध, गो-घृत, गोरस आदिके ग्रहणका नियम बनाकर डालडा (कृत्रिम घृत) आदि, सफेद घोल नामक कृत्रिम दुग्ध आदिका बहिष्कार करना चाहिये। माँ समझकर बूढ़ी, लूली, लँगड़ी गाय और बैलोंको भी न बेचनेका दृढ़ नियम बनाकर उनका पालन करनेका प्रयत्न करना चाहिये। यही नियम बैलों, साँड़ोंके सम्बन्धमें रहने चाहिये। ट्रैक्टर एवं रासायनिक खादोंका भी प्रयोग रोककर बैलोंसे खेती एवं देशी गोबर-गोमूत्र आदिकी खादोंका ही प्रयोग करना चाहिये। साथ ही मारे हुए गायों, बैलों, बछड़ोंके चमड़ोंसे बने हुए जूते, बक्स, फीते आदिका गोरक्षाके लिये सर्वथा पूर्ण बहिष्कार करना चाहिये और भी जिन-जिन डाक्टरी औषधों तथा विदेशी प्रसाधनोंमें गोरक्त, मांस, चर्बी आदिका प्रयोग होता है, उनका भी सर्वथा त्याग करना चाहिये। पूरी शक्तिके साथ काम, क्रोध, लोभ छोड़कर गोहत्या-बंदी-आन्दोलनसे चुनाव आदिमें राजनीतिक लाभ न उठाते हुए, शुद्ध अहिंसा-सत्य आदि नियमोंका पूर्ण पालन करते हुए गोहत्या-बंदी-आन्दोलनको अधिकाधिक शक्तिशाली बनाना चाहिये। जबतक पूर्णरूपेण गोहत्या बंद न हो जाय, तबतक चैन नहीं लेना चाहिये।

सुप्रीम कोर्टके फैसले, संविधानकी धाराएँ तथा राज्यों एवं केन्द्रके अधिकार-सम्बन्धी सभी अड़चनें, सरकार चाहे तो अनायासेन दूर की जा सकती हैं। गैरसरकारी एम्० पी० एवं एम्०एल्० ए० समर्थन कर सकते हैं।

सत्याग्रहीका प्रतिज्ञा-पत्र

गोरक्षा-आन्दोलनको अहिंसात्मक एवं शान्तिपूर्ण ढंगसे चलानेके लिये 'गोरक्षा-महाभियान-समिति' ('धर्मसंघ', निगमबोध घाट, दिल्ली) ने सत्याग्रहियोंके लिये एक प्रतिज्ञापत्र निकाला है। उस पत्रपर हस्ताक्षर करके प्रतिज्ञा करनेवाले सत्याग्रही ही अधिकृत सत्याग्रही समझे जायँगे। प्रतिज्ञापत्रकी रूपरेखा इस प्रकार है—

गोमाताकी जय हो।
'गावो विश्वस्य मातरः'
गोहत्या बंद हो।

गोरक्षा-प्रतिज्ञापत्र

मैं.................... पुत्र श्री....................
पूरा पता..
....

प्रतिज्ञा करता हूँ कि पुण्य भारतभूमिसे गोवध बंद करानेके लिये 'सर्वदलीय गोरक्षा-महाभियान-समिति' जो कार्यक्रम निर्धारित करेगी, उसे यथाशक्ति सफल बनानेका प्रयत्न करूँगा तथा कोई भी हिंसात्मक अथवा उत्तेजनात्मक कार्यवाही नहीं करूँगा। अपने दलके नेता तथा समितिद्वारा नियत किसी भी अधिकारीके अनुशासनका पालन करूँगा और किसी भी यातनाको सहनेके लिये सदा उद्यत रहूँगा।

निवेदक
हस्ताक्षर....................
साक्षी हस्ताक्षर....................
पूरा नाम....................
पूरा पता....................
तिथि....................

कमल—अलिप्त पवित्रता

[संत श्रीविनोबा]

(प्रेषक—श्रीस्वामीनाथजी पाण्डेय [व्याख्याता])

(क) 'कमल' पानीमें रहकर पानीसे अलिप्त रहता है। उसपर और उसके पत्तोंपर पानीका स्पर्श टिकता नहीं। यों ही जो संसारमें सुन्दर, सुगन्धित, सम्पन्न, सर्वोपरि, सुखी, विकसित रहकर भी पवित्रतासे भरपूर रहते हैं, अकारण किसीसे नहीं टकराते, अपनी मर्यादा निबाहते जाते हैं और मर्यादा-पालनमें ही अपना सर्वस्व स्वाहा भी कर देते हैं; पर अपनी अलिप्त मनोवृत्ति नहीं छोड़ते, वे कमलकी भाँति अलिप्त पवित्रतासे भरपूर होते हैं। उन्हें संसारकी कोई वस्तु अनुचित ढंगसे आकृष्ट नहीं कर सकती। यदि ऐसा अनासक्त पुरुष, अलिप्त पुरुष किसी वस्तुसे लगाव रखता है तो वह भी अलिप्त भावसे ही रखता है। वहाँ वह अनिवार्य आवश्यकता महसूस करता है, व्यर्थमें मोहग्रस्त होकर इन्द्रियदास होकर कोई काम उससे नहीं होता। वह आत्मनिष्ठ होता है। वह शोकसे दूर होता है, मोहसे रहित होता है, विजुगुप्सा उसे सताती नहीं। वह सर्वत्र प्रभु-दर्शन करता हुआ कर्तव्य-कर्म-निरत द्वन्द्वातीत होता है। वह लोकसंग्रह-हेतु प्रत्येक कार्य योग-भावसे, कुशलतासे, आदर्श-भावसे, परोपकार-भावसे, व्यापक-भावसे, समुदारतासे भगवदिच्छा समझकर करता है, अतः लिप्त होनेकी बात ही नहीं रहती। वह दिनोंदिन शरीरसे नीरोग, मनसे प्रशान्त एवं आत्मासे बलिष्ठ होकर जग-विचरण करता है और समस्त संसारको अपना परिवार मानकर सर्वहितकारी कदम ही रखता है। मानवहिताय जितनी भी संस्थाएँ, व्यवस्थाएँ, समाज, संघ इत्यादि होते हैं,उ न सभीको वह स्वस्थ विचारोंसे सुप्रेरित करता है, सर्वत्र अलिप्त मनोवृत्ति-की, अदीन मनोवृत्तिकी सुस्थापना करता है। वस्तुतः अलिप्त मनोवृत्ति, अदीन मनोवृत्ति पैदा करना ही प्रत्येक महापुरुषके जीवनका मुख्य और सर्वोपरि लक्ष्य रहा है, रहेगा भी। और आज भी जो महान् विभूति हैं, उनमें भी कमल-सी अलिप्त पवित्रता अवश्य दीख पड़ेगी। सूर्य यानी प्रकाश, प्रकाश यानी सूर्य। यदि सूर्यमें भी तम हुआ और प्रकाशमें भी अन्धकार हुआ, तो तमोनाश, अन्धकार-विनाश कदापि नहीं हो सकता।

(ख) अलिप्तताके अनेक रूप एवं अनेक क्षेत्र होंगे। पर मुख्यतः तीन क्षेत्रोंकी अलिप्त पवित्रता ही महापुरुषोंके जीवनके अंदर दिखेगी। नारी, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा—इनको समक्ष रखकर अलिप्त पवित्रताकी साधना करनी पड़ती है। अपनी नारीको छोड़कर अन्य समस्त नारीजातिमें मातृभावनाकी साधना करते हुए, अपनी धर्मपत्नीमें भी उचित समयपर भगिनी-भाव, मातृभावकी साधना करके अलिप्त भगवान्‌की शरणमें चले जाते हैं, मायासे मुक्त हो जाते हैं।

'लक्ष्मी'की चकाचौंधमें आँखोंपर निःस्पृहताका चश्मा रखकर समत्वभावसे धीरे-धीरे 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' की बात पूर्ण कर लेते हैं। भोगमें त्यागका गुण प्राप्त करके जन-सेवार्थ आगे बढ़ जाते हैं।

'प्रतिष्ठाको' केवल कर्तव्य-भारके वहनहेतु आकर्षक मानकर वीरपुरुष उससे लगाव रखते हैं, पर निष्पक्ष-भावसे योग्य उत्तराधिकारी पाकर वे प्रतिष्ठाको भावी उत्तराधिकारीके यशस्वी और बलिष्ठ हाथोंमें सौंप देते हैं।

इस प्रकार पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणासे पूर्ण मुक्ति पाकर, पूर्ण अलिप्तता सिद्ध कर, निर्लिप्त पुरुष भगवान्‌की निर्भय गोदमें पहुँचकर आनन्दभोगी बन जाते हैं। वस्तुतः उक्त क्षेत्रोंमें कमल-साधना करनेवाले लोग ही 'पण्डित' संज्ञा प्राप्त करते हैं। यथा—

> मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
> आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

'जो परनारीको माता-समान, परधनको मिट्टी-समान, सब जीवोंको अपने समान देखता है, वही पण्डित है, विवेकी है।' कामिनी-काञ्चन-प्रतिष्ठा (पद) के अंदर रहकर ही अलिप्तताकी साधना की जाती है। इनसे दूर नहीं रहा जा सकता। इनसे दूर रहना यानी प्रलय होना। जबतक समर्थ प्रभुकी सक्षम दुनिया है,

इसमें रहकर ही जीवनमें अलिप्त पवित्रता पायी जा सकती है। अलिप्त पवित्रता अभ्यासकी वस्तु है। अपने शरीरके प्रत्येक अङ्गको स्वस्थ रखना, उनसे उचित काम लेना, परोपकार करना और न्यायपूर्वक जीवन-यापन करना अलिप्तताकी पहचान है। जैसे नदी समुद्रमें मिलकर नाम-रूपका परित्याग कर देती है, समुद्ररूप हो जाती है, समुद्र बन जाती है, वैसे ही प्रत्येक भाग्यशाली मनुष्य जब अपनी समस्त शक्तियोंके साथ समाज-सेवामें लीन हो जाता है, तब वह त्रिविध क्षेत्रोंमें अलिप्तताकी प्राप्ति कर लेता है। फिर किसी प्रकारकी अशान्ति कहीं भी नहीं रह जाती। सर्वत्र व्यक्तिगत शान्ति, राष्ट्रगत शान्ति एवं विश्वगत शान्तिकी रश्मियाँ अठखेलियाँ करती हैं; अँधेरा नहीं होता, तमोराज्य मिटता जाता है; ज्योतिराज्य, रामराज्य, मानव-राज्य, अपशुराज्यकी सुस्थापना स्वयमेव हो जाती है।

विद्वद्वर उपर्युक्त 'कमल' पर न जाने कितने-कितने सुन्दर भाव-विचार दे सकते हैं। मनस्तुष्टि-हेतु अपनी टूटी-फूटी भावनाओंका प्रकाशीकरण किया गया।

वीरताकी परिभाषा

[ऐतिहासिक कहानी]

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'श्रीमन्त! मराठा सेनाने शत्रुको भगा दिया!'

'क्या मुगल सेनापति बहलोल युद्धभूमिसे भाग गया?' छत्रपति शिवाजीने हर्ष-मिश्रित उत्सुकतासे पूछा।

'श्रीमन्त! हमारी सेनाने मुगलोंको मार भगाया है! बहलोलकी सेना भाग गयी! हमने उन्हें लूट लिया और छक्के छुड़ा दिये!' विजयोल्लासके स्वरमें मराठा सेनापतिने छत्रपति शिवाजीको सूचना दी।

मुगलोंकी हार और मराठा सेनाकी जीतकी खुशखबरी सुनकर शिवाजी आनन्दित हो उठे!

कहने लगे, 'सेनापति! मुगलोंको हमेशाके लिये सिखा देना था कि हम भारतके वीर हिंदू हैं। इस वीरप्रसूता हिंदुस्थानका पवित्र अन्न और अमृततुल्य जल यहाँके योद्धाओंके शरीरोंमें प्रवाहित है। हिंदुस्थानमें असुरत्वके दमनके लिये, सत्य और न्यायकी रक्षाके हेतु, स्वाभिमान और आत्मरक्षाके लिये हिंदू वीर सदासे ही शस्त्र पकड़ते रहे हैं। युद्धमें शत्रुको पराजित कर ही बैठना हिंदुओंके इस देशकी प्राचीन परम्परा रही है। सेनापति! वह हमारे रक्तमें आज भी हिलोरें ले रही है।'

छत्रपतिके चेहरेपर प्रभातकी अरुण आभा-सी लालिमा थी।

'महाराज! आप इस युगके राम हैं, जो भारतमें रावण-रूपी मुगलोंकी दुष्टताके दमनके लिये प्रकट हुए हैं। आपके प्रतापसे आज मुगलोंकी हिम्मत नहीं कि मराठा फौजोंके सामने ठहर सकें।'

छत्रपति सेनापतिके जवाबसे कुछ संतुष्ट दिखायी दिये। वे जीवनभर मुगलोंसे भारत-भूमि वापिस लेनेके लिये युद्ध कर रहे थे। शठता और राक्षसत्वका मानमर्दन और फिरसे हिंदू-राज्यकी स्थापना उनका लक्ष्य था।

मराठा सेनापति इस दिन बड़े भयंकर युद्धसे जीतकर लौटा था। ऊपर लिखी बातें युद्ध-भूमिके समीप बने हुए एक फौजी कैम्पमें हो रही थीं।

सुसंवाद सुनकर शिवाजी कुछ देर चुप रहे! जैसे वे हिंदुस्थानमें हिंदू-राज्यकी स्थापनाके स्वर्णिम स्वप्न देख रहे हों!

फिर शान्त-संयत सधे स्वरमें कहने लगे—

'सेनापति! हिंदुस्थान वीरता और चरित्रकी ऊँचाईमें सर्वोपरि रहा है। हमारे देशमें शास्त्रोंका गहन अध्ययन करनेवाले कवि और विद्वान्तक अपनी पीठपर तरकस और कंधोंपर प्रत्येक क्षण धनुष डाले हुए घूमते फिरते थे, ताकि जरूरत पड़नेपर दुष्टोंसे संघर्ष भी कर सकें...लेकिन...'

एकाएक शिवाजी कुछ कहते-कहते बीचहीमें रुक गये। निर्वाक्...निस्पन्द और आश्चर्यके सागरमें डूबे हुए! क्या बात थी यह?

'सेनापति! तुम्हारे हाथमें यह किताब क्या है?'''और बाहर'''वह डोला किसका दीख रहा है? ओफ! यह मैं क्या दृश्य देख रहा हूँ? किताब और डोला'''कुछ समझ नहीं पा रहा हूँ? आखिर क्या रहस्य है यह?'

छत्रपति वस्तुस्थितिको समझनेका प्रयत्न कर रहे थे, पर पहेलीकी उलझनमें फँसे थे। उनके मुखर मुँहकी बोलती बंद हो गयी थी, नीरव, मूक'''मौन! सबके मनमें कौतूहल और जिज्ञासा थी।

वहाँ एक विचित्र विषादपूर्ण संनाटा छाया हुआ था। अन्तमें डरते-डरते सेनापति कहने लगे—

'यह मुसल्मानोंकी पुस्तक है?'

'कौन-सी किताब है यह?'

'कुरान!'

'आप कुरान क्यों लाये हैं भला? और इस डोलीमें क्या है?' दर्दसे कराहते स्वरमें छत्रपतिने पूछा।

मराठा सेनापति कुछ सकुचाया। कुछ उत्तर न दे सका। वह चुप था। शिवाजीने डोलीकी ओर संकेत करते हुए फिर पूछा, 'यह क्या है? मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस युद्धभूमिके कैम्पमें भला डोलीका क्या काम? इसमें कौन है? जल्द बताओ, यह सब क्या रहस्य है?'

मराठा सेनापति अब भी चुप था, जैसे गला घुटा जा रहा हो! एक शब्द भी डरे हुए सेनापतिके मुँहसे नहीं निकल पा रहा था।

'इस डोलीमें किसे लाये हो कैम्पमें?' ललकार कर छत्रपतिने फिर पूछा। सेनापतिने उत्तर दिया, 'श्रीमन्त! गुस्ताखी माफ करें।'

'कहो, क्या कहना चाहते हो सेनापति? हम तुमसे खुश हैं; क्योंकि तुमने आज मुगल सेनापति बहलोलको मार भगाया है! स्पष्टीकरण करो।'

'श्रीमन्त! आपके लिये एक बेहतरीन भेंट लाया हूँ।' शब्द जैसे निकलते-निकलते होठोंमें समा गये!

'भेंट! वह भी मेरे लिये?' चकित हो छत्रपति शिवाजीने पूछा।

'जी हाँ, श्रीमन्त! इसमें दुनियाके सौन्दर्यका बेहतरीन तोफा है! ईश्वरकी सौन्दर्य-कलाका जीता-जागता नमूना! आप देखेंगे तो मुँहसे अनायास ही निकल उठेगा, 'वाह! खूब! वाकई यह सुन्दरतामें सबसे ऊँची चीज है।'

'हीरे'''जवाहरात'''कीमती वस्त्र'''बहुमूल्य माणिक'''मोती'''हीरे'''पन्ने'''स्वर्णका ढेर'''आखिर कौन-सी बेशकीमती चीज है इस डोलीमें? बताओ सेनापति! हम जाननेको उत्सुक हैं? आखिर हमारे लिये भेंटमें क्या लाये हो?'

सेनापतिने देखा अब छत्रपति शिवाजी उसके पक्षमें थे। अब उसे अपने पक्षको स्पष्ट करनेका सुअवसर मिला।

'सेनापति! क्या भेंट लाये हो सैनिक शिवाजीके लिये? वह तो एक सिपाही है। देश और समाजकी रक्षाके लिये युद्ध कर रहा है। वह अपनी धरती शत्रुके हाथसे निकाल लेनेमें अपना धर्म समझता है, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। वह देशकी रक्षामें ही हिंदूका बड़प्पन मानता आया है। जरूर तुम्हारी भेंट एक सिपाहीके लिये कामकी होगी। जो चीज कामकी होती है, वह खूबसूरत भी मानी जाती है।'

'ऐसी तो भेंटें नहीं हैं?' सेनापति कुछ लज्जित था।

'तो फिर क्या है? हमें दिखाओ सेनापति!'

अब सेनापति अधिक देर चुप न रह सका। कहने लगा—

'श्रीमन्त! इस डोलीमें बहलोलकी बेगम है, जो सुन्दरतामें अपना सानी नहीं रखती। उसका अनुपम सौन्दर्य मराठा रनवासमें चार चाँद लगा देगा। वीर पुरुषोंकी सहधर्मिणी संसारकी सर्वोच्च सुन्दरी ही होनी चाहिये।'

छत्रपति कुछ सोच रहे थे। उनके नेत्र विचार-मुद्रामें लीन थे।

'श्रीमन्त! आप सुन्दरताकी कद्र करते हैं। उसका सही मूल्य जानते हैं'''और फिर सुन्दर चीज ऊँचे महलोंमें रहनेयोग्य ही होती है। मुझे आशा है, आप इस सुन्दरीको ग्रहण करेंगे'''मेरी भेंट स्वीकार करेंगे।'

छत्रपतिके मुँहसे निकला, 'बहलोलकी बेगम!'

मराठा सेनापतिने डोलीका पर्दा हटाते हुए कहा, 'देखिये, श्रीमन्त! यह वह अद्वितीय सुन्दरी है, जो खूबसूरतीमें अपना सानी नहीं रखती'' यह आपकी भेंटके लिये जीतकर शत्रुको परास्त कर लायी गयी है'''।'

'श्रीमन्त! ग्रहण कीजिये यह भेंट!' विनयपूर्वक मराठा सेनापतिने आग्रह किया। 'और यह कुरान लीजिये।'

'यह सब क्यों? क्या अभिप्राय है तुम्हारा?'

'श्रीमन्त ! जिस तरह मुसल्मान लोग हमारी पुनीत भारतीय संस्कृतिका उपहास उड़ाया करते हैं, आप भी उनकी धर्म-पुस्तकका मजाक उड़ाकर उनसे हिंदुओंकी मानहानिका बदला लीजिये ।'

मराठा सेनापति समझ रहा था कि 'छत्रपति उसकी भेंटसे खुश हो रहे हैं ।' यह एक चामत्कारिक क्षण था । क्या होगा आगे ? यही सबकी उत्सुकता थी । इतनेमें शिवाजीने कुरानशरीफका आदर करते हुए उसे चूमा । फिर मस्तकसे लगाया ।

यह क्या ! ओह ! ये हिंदू दूसरे धर्मवालोंकी पुस्तकको क्यों माथेपर चढ़ा रहे हैं ? इन्हें तो चाहिये था कि कुरानको पाँवोंतले कुचलते और उसपर थूक देते ।

फिर छत्रपति उठे और डोलेके पास जाकर उस स्त्रीको सम्बोधित करते हुए बोले—

'ईश्वरके हाथकी निरुपम कारीगरी ! उषाके उदयसे जैसे सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख मिलता है, वैसे ही पवित्र-नारी-के दर्शनसे पुरुष धन्य होता है'' ।'

मराठा सेनापति हतबुद्धि-सा किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा था । एक बार फिर साहस करके बोला—'श्रीमन्त ! क्या ये खूबसूरत नहीं हैं ? क्या आपको यह तोफा पसंद नहीं है ?' उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगा ।

छत्रपतिने मुगल-स्त्रीको सम्बोधित करके कहा—

'वास्तवमें तू बहुत सुन्दर है, माता ! मुझे खेद है कि मैं तेरी कोखसे नहीं जन्मा । नहीं तो मैं भी इसी प्रकार सुन्दर होता ।'

ये शब्द वातावरणमें फैल गये । कैम्पमें खड़े हुए उस मराठा सेनाध्यक्षने सुने । अन्य जागीरदारों और सैनिकोंने सुने''''' कुछ देरतक तो वे इन शब्दोंका छिपा हुआ अभिप्रायतक न समझ पाये ।

'सेनापति !' छत्रपतिने डाँटकर हुक्म दिया, 'इन्हें और कुरान-शरीफको आदरके साथ तुरंत मुगल सेनापतिको लौटा दिया जाय ।'

बेचारे सेनापतिकी वह हालत कि काटो तो खून नहीं ! छत्रपतिके चरित्रके इस पहलूको वह नहीं जानता था । वह प्रशंसाकी आशामें वहाँ आया था, पर उसे मिला तिरस्कार''''' घृणा'' । उसकी बोली बंद हो गयी । कहे तो आखिर क्या कहे ?

'बड़े अफसोसकी बात है ।' शिवाजीने बिजली-जैसी कड़कती आवाजमें कहा ।

'श्रीमन्त ! गुस्ताखी माफ कीजिये । मैं समझता था कि वीर पुरुष सौन्दर्यकी कद्र करते हैं । आप सुन्दर स्त्रीको पसंद करेंगे''''' ।'

'चुप रहो ! सेनापति ! मुझे यह कहते हुए अफसोस है कि तुमने मुझे अभीतक नहीं पहचाना है । शिवाजीकी रुचि, विचार और दृष्टिकोणको नहीं समझा है । तुमने अभीतक वीरताकी परिभाषाको नहीं समझा है ।'

सेनापति छत्रपतिके चरणोंपर गिर पड़ा । वह अनिन्द्य-सुन्दरी चकित-विस्मित इस नाटकको देख रही थी । वह भीता-चकिता हरिणीके समान बड़े-बड़े नेत्रोंसे यह दृश्य देख रही थी ।

बड़े प्रेमसे सेनापतिको हृदयसे लगाते हुए छत्रपति बोले—

''सेनापति ! दूसरे धर्मके पवित्र ग्रन्थोंका उपहास करने और स्त्रियोंके सतीत्व लूटनेवालेको वीर नहीं, उसे हिंदूलोग 'कायर' कहते हैं''' । सच्ची वीरता वही है, जहाँ निज-धर्म-रक्षा-के लिये आत्मोत्सर्गके साथ-साथ पर-धर्म-समादरकी भावना भी हो । प्रत्येक परस्त्रीमें माताकी अनुभूति हो ।''

सेनापति अपने दुर्व्यवहारपर लज्जित थे । यहाँ तो पाशा ही पलट गया था ।

उधर छत्रपति कहते जाते थे, 'सेनापति ! भारतीय परम्परामें नारीका स्थान अत्यन्त सम्माननीय रहा है ।'

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।'

—इस देशका पुराना आदर्श कौन भूल सकता है ? नारीमें देवियोंके गुणोंकी प्रचुरता है—

यस्यां भूतं समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत् ।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः ॥

'सेनापति ! हम भारतीय दिव्य शक्तिशाली नारीकी यशोगाथा गाते हैं, जो गत-आगतकी जननी है और अपने देवताओं-जैसे गुणोंके कारण सर्वत्र यशकी पात्री है ।'

'श्रीमन्त ! आज मेरा भ्रम दूर हो गया ।'

छत्रपति फिर बोल उठे—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते ॥
(मनुस्मृति २ । १४५)

'याद रखलो, सेनापति ! एक आचार्य गौरवमें दस उपाध्यायोंसे बढ़कर है। एक पिता सौ आचार्योंसे उत्तम है और एक माता एक सहस्र पिताओंसे भी श्रेष्ठ है।'

मुगल सेनापतिकी बेगम और कुरानशरीफकी प्रति आदरपूर्वक लौटा दी गयी।

अपनी बेगमके साथ किये गये सद्व्यवहार और अपनी धर्मपुस्तकके आदरसे बहलोल बड़ा प्रभावित हुआ। 'हम शत्रुओंसे भी ऐसा अद्भुत आदर्श बर्ताव ! ये हिंदूलोग वाकई दुनियाकी बेहतरीन कौम हैं। मैं छत्रपतिके दर्शन कर अपनेको धन्य करूँगा।'

दिल्ली लौटनेसे पूर्व बहलोलने शिवाजीके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की।

शत्रुसे मिलना शिवाजीके लिये खतरेसे खाली न था। पर मानवताके नाते उन्होंने मुगल सेनापतिका आदर किया। दोनोंकी निःशस्त्र आनेकी बात तय हो गयी।

छत्रपति शिवाजी अपने सीधे-सादे लिबासमें आगे बढ़े, लंबा सफेद अँगरखा, चूड़ीदार पायजामा और साफा।

बहलोल खाँ हाथ मिलाते हुए उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित हो गये। उनके मुँहसे एकाएक निकला, 'फरिश्ता।'

'नहीं, देवी भगवतीका एक हिंदू सैनिक। शिवाजी शक्तिका पुजारीमात्र है।'

'आपके बहुत ऊँचे शरीफाना बर्तावकी बात सुनकर मैं चकित हो गया और मेरे मनमें आपके पवित्र दर्शनोंकी अभिलाषा उत्पन्न हो गयी, वह आज पूरी हो रही है। छत्रपतिको देखकर मैं आजसे नयी जिंदगी शुरू कर रहा हूँ।'

शिवाजीने बड़े प्रेमसे उसे गले लगा लिया। अनोखा दृश्य था। सब चकित—स्तम्भित थे।

नैतिकतापर एक दृष्टि

(लेखक—श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

आजकल कुछ क्षेत्रोंसे नैतिकतापर बड़ा प्रहार किया जा रहा है। इसलिये उसपर विचार कर लेना उचित होगा। नयी परिस्थितियोंमें पुनर्विचार कर लेना या करते रहना बुरा नहीं है।

नैतिकताके दो पक्ष या भाग हैं। एक है—सापेक्ष, दूसरा है—निरपेक्ष। समाजकी अपेक्षासे जो नैतिक नियम उपयोगी हों, उन्हें सापेक्ष कहें, परंतु उनकी आवश्यकता और उपयोगितापर सहसा प्रहार नहीं किया जा सकता। चूँकि वे समाजकी अपेक्षासे हैं, अतः भिन्न-भिन्न और विभिन्न-कालीन सामाजिक परिस्थितियोंके अनुसार उनका रूप-रंग—प्रयोग बदलता रहता है। इसमें आपत्तिकी गुंजाइश नहीं। अलबत्ता, यह देखते रहना जरूरी है कि उन नियमोंका प्रयोग समाजको आगे बढ़ाने, ऊँचा उठानेकी दृष्टिसे हो रहा है या नहीं ? समाजको यदि हम जहाँ-का-तहाँ रखते हैं तो वह सड़ जाता है और समाज, चूँकि सजीव प्राणियों—मनुष्योंसे बना है, वह सड़ जाना कभी पसंद नहीं करेगा। किंतु कई बार समाजके लोग और नेता ऐसे जड या मदान्ध हो जाते हैं कि वे समाजके पतन और पिछड़ेपनका कारण बन जाते हैं। इस दुरवस्थासे बचनेका सदैव प्रयत्न करना चाहिये और इसके प्रति अहर्निश जागरूकता रहनी चाहिये।

जिन दिशाओंसे नैतिकतापर आक्रमण हो रहा है, वे इस सापेक्ष नैतिकताके खिलाफ दरअसल नहीं होती हैं, निरपेक्ष नैतिकताके खिलाफ होती हैं। निरपेक्षताके आस-पास धर्म, ईश्वर, अध्यात्म आदि अगम्य और अव्यक्तका जो सम्बन्ध जोड़ा गया है, उससे वे भड़क उठते हैं। ये यथार्थवादी हैं और प्रत्यक्ष या बुद्धिगम्यके अलावा किसी वस्तुपर विश्वास उनका नहीं है। ये शब्द उनके लिये डरावने हो गये हैं। तो इन्हें फिलहाल जाने दीजिये। हम एक दूसरी ही दृष्टिसे इसपर विचार करेंगे।

निरपेक्षका अर्थ इतना ही है कि 'जिसमें समाजके कल्याण या हितकी भावनाके साथ व्यक्तिके निजकी उन्नतिकी, निजको ऊँचा उठानेकी प्रधान भावना हो।' इसमें यह मान्यता गृहीत है कि यदि व्यक्ति समाजके साधारण धरातलसे ऊँचा न उठेगा, तो वह समाजको अधिक न दे सकेगा। समाजसे कुछ अधिक उसके पास होगा, तभी वह समाजको अधिक दे सकेगा। नैतिक क्षेत्रमें ऊँचा उठनेका अर्थ क्या ?

नैतिक गुणोंमें वरिष्ठता प्राप्त करना, अथवा समाजको अधिकाधिक देते रहनेकी योग्यता और क्षमताको बढ़ाना। यह साधारण नैतिक गुणोंसे ऊपर उठकर ही किया जा सकता है। साधारण नैतिकता सामान्यतः—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

—इसपर आधारित होती है। इसमें व्यक्ति और समाजका लेन-देन बराबर होता है। इसमें एक प्रकारका ठहराव या समझौता होता है। 'मैं तुम्हें दुःख न दूँ, तुम मुझे दुःख न दो। 'मैं तुम्हें हानि न पहुँचाऊँ, तुम मुझे हानि न पहुँचाओ'—दोनों पक्षोंमें इस प्रकारकी समान भावना रहती है। इसमें व्यक्ति समाजसे समान व्यवहारकी अपेक्षा रखता है। किंतु निरपेक्षतामें उसे यह आशा और अपेक्षा छोड़ देनी होती है। समाज उसकी अपेक्षाओंको पूरा करता है या नहीं, इस ओर उसकी दृष्टि न रहकर समाजको उसका जो देय है, उसपर उसकी दृष्टि प्रधान रहती है। यह एक प्रकारके संयम या त्यागकी प्रक्रिया है जो समाजहितके उद्देश्यसे की जाती है। यह प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते, जब व्यक्ति समाजमें कुछ भी आशा-अपेक्षा नहीं रखता और समाज उसके प्रति अपने कर्तव्यको न निभाये, तब भी वह क्षुब्ध नहीं होता, तब वह निरपेक्ष नैतिकताका पालन करनेवाला हो जाता है। समाजसे प्राप्तिकी आशा छोड़ना सहज हो जाता है, यदि व्यक्तिके सामने समाजहितसे भी ऊँचा और बड़ा कोई लक्ष्य हो हमारे पूर्वजोंने उसी लक्ष्यको ब्रह्म-प्राप्ति, ईश्वरत्व-सिद्धि या धार्मिक क्रियाका नाम दिया है। इसमें आप देखेंगे कि व्यक्ति समाजके विकास और उन्नतिमें रुकावट नहीं होता है, बल्कि अधिक उन्नत, अधिक श्रेष्ठ होकर समाजको अधिक देनेकी स्थितिमें आ जाता है।

हमारे देशके या विदेशोंके महान् मानव इसी कोटिमें आते हैं और वे इसी प्रक्रियासे बने हैं। अर्थात् निरपेक्ष नैतिकताकी साधना, महामानव बननेकी साधना है और इसमें किसीको कोई आपत्ति क्यों होनी चाहिये? बल्कि यह प्रक्रिया और साधना स्वागतके योग्य है। इसमें सापेक्ष नैतिकताका विरोध नहीं है। उसे आगे बढ़ानेके लिये त्याग, स्वयं कष्ट-सहिष्णुताको आवाहन देना है, जिसे व्यक्ति स्वेच्छासे, आनन्दके साथ ग्रहण करता है। समाजका यह दुहरा लाभ है।

मुझे आशा है, हमारे जो मित्र नैतिकताके नामसे चौंक उठते हैं, वे इस दृष्टिसे निरपेक्ष नैतिकताके महत्त्वपर विचार करनेकी कृपा करेंगे।

दानका फल

एक साधकको स्वप्नमें नरक तथा स्वर्गके दृश्य दिखायी दिये। उसने देखा कि जो पूर्वजन्ममें निर्बल, निर्धन, अपदस्थ तथा असहाय थे, वे स्वर्ग-सुख भोग रहे हैं; जो पूर्वजन्ममें बलवान्, धनी, बड़े अधिकारी और समर्थ थे, वे नरककी यन्त्रणा भोग रहे हैं। पता लगा, निर्बलोंने पाप नहीं किये थे और बलवानोंने पाप किये थे। फिर उसने एक पूर्वजन्मके धनी तथा बड़े विख्यात दानीको बड़े मलिन तथा खिन्नरूपमें बैठे देखा तो उससे पूछा कि 'आप इतने बड़े दानी थे, फिर आपको यह गति कैसे मिली?' उसने दुःख प्रकट करते हुए कहा—'मैंने लाखों रुपयोंका दान अवश्य किया था, पर कभी दीन-दुखियोंके दुःखसे दुखी होकर उनके दुःखनाशके लिये चुपचाप दान नहीं किया था। केवल मान-बड़ाईकी तथा भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही किया था। इसीसे मेरा वह दान व्यापार समझा गया और मेरी इस दुर्गतिका कारण बना।

वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी)

भासनाटकचक्रम्—

देवभाषा संस्कृत पृथ्वीकी प्राचीन भाषाओंमें श्रेष्ठ है, इस विषयमें मतान्तरके लिये कोई अवकाश नहीं है। उसके साथ ग्रीक या अपेक्षाकृत अर्वाचीन लैटिनकी तुलना ही नहीं हो सकती। रामायण-महाभारतकी बात छोड़ देनेपर भी श्रीमद्भागवतके समान अनवद्य काव्य अथवा धर्मग्रन्थ अन्य किसी भी भाषामें, कहीं भी रचित नहीं हुआ है। भविष्यमें होनेकी कोई सम्भावना भी है, ऐसा समझमें नहीं आता। संस्कृत भाषामें वर्तमानकालमें प्रायः एक हजार महाकाव्योंका अस्तित्व खोजनेसे पाया गया है। और भी अधिक होना सम्भव है। छपाने तथा बेचनेकी सुयोग-सुविधा न होनेसे कितनी पाण्डुलिपियाँ लोकचक्षुसे अन्तर्हित रहकर अनायास ही क्रमशः ध्वंस होती जा रही हैं। सोचनेपर आश्चर्य होता है कि आधुनिक युगके सर्वाग्रगण्य पाश्चात्य साहित्य—अंग्रेजीमें भी केवल एक ही महाकाव्य (Epic) उपलब्ध होता है—वह भी मिल्टन (Milton) के द्वारा लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व लिखा गया था। 'पैराडाइज लॉस्ट' (Paradise Lose) की रचनाके पश्चात् अंग्रेज जातिने पृथ्वीपर विजय प्राप्त की, अंग्रेजी भाषाकी भी असाधारण उन्नति हुई, किंतु किसी अन्य महाकाव्यकी रचना हुई हो, इसमें संदेह ही है। सुना गया है कि पृथ्वीकी अन्यतम समृद्ध भाषा फ्रेंचमें भी केवल पाँच या छः ही महाकाव्य हैं।

सुतरां यदि यह कहा जाय कि क्या प्राचीन, क्या अर्वाचीन—समग्र साहित्यमें संस्कृत बहुप्रकारेण आज भी श्रेष्ठ स्थानपर अधिकार किये हुए है, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी।

कालिदासका काल प्रथम (ईसापूर्व) शताब्दी है। यह निःसंदेह है। कालिदासका 'रघुवंश' संस्कृत भाषाका श्रेष्ठ महाकाव्य है और उनका 'अभिज्ञानशाकुन्तल' भी संस्कृत साहित्यका श्रेष्ठ नाटक है, यह सर्वजनग्राह्य है। सुतरां कालिदास एक ही साथ संस्कृत तथा विश्वसाहित्यके अग्रगण्य महाकवि और नाटककार हैं। किंतु आज उनके देशवासी हम आत्मविस्मृत हो रहे हैं—उनका स्थान सर्वोच्च है, यह भी हमलोग नहीं जानते। कालिदासकी समग्र ग्रन्थावली पढ़नेके लिये कितने लोगोंको अवकाश या इच्छा है या कितने प्रतिशत लोगोंके घरोंमें ये ग्रन्थ हैं ?

अधिकांश पाश्चात्य गवेषकोंके मतमें कालिदास अनुमानतः ईसाकी चौथी शताब्दीके शेषभागमें वर्तमान थे। वे लोग सोचते हैं कि बौद्ध कवि अश्वघोष उनके पूर्ववर्ती एवं सर्वप्राचीन भारतीय नाटककार थे। किंतु यह धारणा भ्रान्त है।

'मालविकाग्निमित्रम्' कालिदासके द्वारा प्रणीत ऐतिहासिक नाटक है। इसकी प्रस्तावनामें उन्होंने अपने पूर्वकालीन कई एक प्रथितयशा नाटककारोंका नाम उल्लेख किया है—

प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य कृतौ कथं परिषदो बहुमानः?

(मालविकाग्निमित्र १ । ५)

भास इनमें अन्यतम हैं। भासका नाम अलंकार और काव्यालोचना ग्रन्थोंमें नाना प्रकारसे प्राप्त होनेपर भी उनके द्वारा प्रणीत साहित्य सम्पूर्ण लुप्तप्राय हो गया था।

वर्तमान शताब्दीके प्रारम्भमें दाक्षिणात्यमें दो महामूल्य आविष्कार हुए। महामहोपाध्याय डा० श्याम शास्त्रीने प्रथमतः कौटिलीय अर्थशास्त्रको लुप्त होनेसे बचाकर प्रकट किया। इसके पश्चात् महामहोपाध्याय डा० गणपति शास्त्रीने भास-नाटक (पहले ११, बादमें और भी २) चक्रका पुनः आविष्कार किया। इस घटनामें प्राचीन भारतीय साहित्य एवं इतिहासपर नवीन प्रकाश डाला एवं इसके लिये एतद्देशीय और विदेशीय विदग्धमण्डली—इन दोनों महानुभावोंकी चिरऋणी रहेगी, इसमें संदेह नहीं है।

भासके ये कुल चौदह नाटक पाये गये हैं। संस्कृत साहित्यमें किसी नाटककारके इतने नाटक नहीं हैं। सम्भवतः इनके और भी अनेक ग्रन्थ थे।

विषय	नाटकका नाम
१ रामायण	(१) यज्ञफल (२) प्रतिमा (३) अभिषेक
२ महाभारत	(४) मध्यमव्यायोग (५) पञ्चरात्र (६) दूतवाक्य (७) दूतघटोत्कच (८) कर्णभार (९) उरुभङ्ग

३ हरिवंश-विष्णुपुराण (१०) बालचरित
४ प्राचीन कथा (११) अविमारक
५ उदयन-कथा (१२) प्रतिज्ञा यौगन्धरायण (१३) स्वप्नवासवदत्त
६ सामाजिक (१४) चारुदत्त (खण्डित—४ अङ्क मात्र)

किंतु इन चौदह नाटकोंमेंसे किसीमें भी ग्रन्थकर्ताका नाम नहीं है। इसलिये अनेक, विशेषतः पाश्चात्य विद्वद्वर्गने, ये सब भासप्रणीत हैं या नहीं, इस विषयमें यथेष्ट संदेह प्रकट किया है।

'स्वप्नवासवदत्त' भासकविका श्रेष्ठ नाटकके रूपमें संस्कृत साहित्यमें सुपरिचित है। यह भासको अमर बनाये रक्खेगा। हम दिखलायेंगे कि उपलब्ध 'स्वप्नवासवदत्त' भासके 'स्वप्नवासवदत्त'से अभिन्न है एवं सारे ही नाटक, जो खूब सम्भव है कि एक ही लेखनीसे प्रसूत हुए हैं, आलोचनाके द्वारा यह भी निश्चित हो जायगा।

स्वप्नवासवदत्त भासप्रणीत है—

(१) सुप्रसिद्ध आलंकारिक राजशेखर 'सुक्तिमुक्तावली' में कहते हैं—

भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः॥

"भासके समस्त नाटकोंको परीक्षा करनेके लिये अग्निमें डाल दिया गया था, किंतु अग्नि 'स्वप्नवासवदत्त'को दग्ध करनेमें सक्षम नहीं हुई।"

'काव्यसमालोचना'को अग्निपरीक्षा कहा जाता है। स्वप्नवासवदत्तमें वासवदत्ताकी अग्निदाहजनित (मिथ्या) मृत्युकी कथा वर्णित हुई है। इस श्लोकमें राजशेखरने इस कथाके विषयकी ओर इंगित करनेके साथ-साथ नाटकके अविसंवादित अमरत्वकी घोषणा भी कर दी है।

'पृथ्वीराजचरित'की टीकामें है—

'सोऽग्निरपि भासमुनेः काव्यं विष्णुधर्माश्च मुखात् त्यक्तवान् नादहदित्यर्थः।'

लक्ष्य करनेकी बात है कि टीकाकारने इस स्थानपर महाकवि भासको 'मुनि' की संज्ञासे भूषित करनेमें संकोच नहीं किया।

उपर्युक्त श्लोकसे प्रमाणित होता है कि भासने बहुत-से नाटकोंकी रचना की थी। 'स्वप्नवासवदत्त' उनमें प्रधान है और लेखनशैलीमें अत्युत्कृष्ट एवं अनवद्य है।

'स्वप्नवासवदत्त' नाटकके विषयमें और भी अनेक उल्लेख संस्कृतके काव्यसमालोचना-ग्रन्थमें पाये जाते हैं। 'गौड़वहो' (८०० पदोंवाले) काव्यमें भासके सम्बन्धमें 'जलणमित्त' विशेषणका व्यवहार किया गया है। 'भासम्मि जलणमित्ते।'

—वैदग्ध्यवर्णनम् (२२१ वें पृष्ठपर)।

(२) रामचन्द्र और गुणचन्द्रद्वारा प्रणीत 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थमें पाया जाता है कि 'स्वप्नवासवदत्त' भासरचित है। ('भासकृते स्वप्नवासवदत्ते')। 'दरिद्रचारुदत्त' नाटकमें भी इसी प्रकारका उल्लेख है।

(Winternitze Some problems of Indian Literature p. 126)

(३) सागरनन्दीने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में लिखा है—

"यथा स्वप्नवासवदत्ते, नेपथ्ये सूत्रधारः उत्सारणं श्रुत्वा पठति, 'अये, कथं तपोवनेऽप्युत्सारणा ?' (विलोक्य) कथं मन्त्री यौगन्धरायणो वत्सराजस्य राज्यप्रत्यानयनं कर्तुकामः पद्मावतीयजनेनोत्सार्यते।"

उपलब्ध 'स्वप्नवासवदत्त'के प्रारम्भमें यह दृश्य है, एवं अक्षरशः न मिलनेपर भी इसी भावकी बात है।

(४) (क) अभिनवभारतीकी 'ध्वन्यालोक' की 'भारतनाट्यविवृति' टीकामें है—

'क्वचित्क्रीडा यथा स्वप्नवासवदत्तायाम्।'

अर्थात् कहीं-कहींपर क्रीडाका भी प्रदर्शन हुआ है, जैसे 'स्वप्नवासवदत्त'नाटकमें।

वर्तमान नाटकके द्वितीय अङ्कमें पद्मावतीकी क्रीडाका वर्णन पाया जाता है—पद्मावती 'कन्दुकेन क्रीडति'।

(ख) 'तत एव विक्रमोर्वशीयस्वप्नवासवदत्ते नाटकमिति व्यवहरन्ति।

(अभिनवभारती, J. O. S, XXXVI, १७ वाँ पृष्ठ)

(५) वामनने 'काव्यालङ्कार'में।' (अधि० ४ । ३)

शरच्छशाङ्कगौरेण वाताविद्धेन भामिनि।
काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम॥

यह श्लोक 'स्वप्न' नाटकसे उद्धृत किया है। यह वर्तमान नाटकमें चतुर्थ अङ्कमें (४। ७) है।

(६) महाराज श्रीभोजदेवने 'शृङ्गारप्रकाश' में—पद्मावतीको अस्वस्थ जानकर राजा उदयनका समुद्रगृहमें गमन, वहींपर शयन, वासवदत्ताको जाग्रत्में स्वप्नवत् दर्शन होना, वासवदत्ताके साथ बातचीत आदिका वर्णन दिया है।

यह सम्पूर्ण उपलब्ध 'स्वप्न' नाटकमें पाया जाता है।

इनके 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के पञ्चम परिच्छेदमें भी इसी प्रकार आलोचना हुई है।

(७) शारदातनयके 'भावप्रकाश' में—

'स्वप्नवासवदत्त' नाटकके (प्रशान्त) न्यास, न्यास-समुद्भेद, बीजोक्ति एवं बीजदर्शन आदिकी आलोचना एवं मागधिका पद्मावतीके निकट वासवदत्ताकी न्यासरूपमें रक्षाकी कथाका उल्लेख है। उसमें—

चिरप्रसुप्तः कामो मे वीणया प्रतिबोधितः।
तां तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया॥

यह श्लोक उद्धृत हुआ है। यह भी वर्तमान 'स्वप्नवासवदत्त' नाटकमें है।

ये सब एवं और भी अन्य प्रमाणपरम्परासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान 'स्वप्नवासवदत्त' नाटक महाकवि भासद्वारा विरचित है—यह दूसरे किसीकी कृति नहीं है। विषय-वस्तु निःसंदेह एक ही है, हाँ, भाषामें ढाई हजार वर्षोंमें कहीं-कहीं त्रुटि—विच्युति हुई होगी, यह अस्वाभाविक नहीं है। सभी जानते हैं कि अभिनयके समय नाटकके किसी-किसी अंशको प्रयोजनके अनुसार परिवर्तित कर लिया जाता है।

'शाकुन्तल' के भी पाठभेद न हों, ऐसी बात नहीं है। केवल साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्वके शेक्सपियरद्वारा प्रणीत कहे जानेवाले परिचित नाटकोंका कर्तृत्व भी संदेहके तर्कजालसे मुक्त नहीं है।

प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण भी भासरचित है

अब हम दिखलायेंगे कि 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' और 'स्वप्नवासवदत्त'—दोनों ही नाटकोंका निर्माता कवि एक ही व्यक्ति है—महाकवि भास।

'प्रतिज्ञा' और 'स्वप्न' युग्म नाटक हैं—एक ही वृन्तके दो फूल। 'प्रतिज्ञा' 'स्वप्न' की पूर्ववर्ती घटनाको लेकर विरचित है एवं सम्भवतः पहले लिखा भी गया है, 'स्वप्न' इसका उपसंहार है। उपलब्ध 'स्वप्न' नाटकमें 'प्रतिज्ञा' नाटककी घटनाका उल्लेख है। 'प्रतिज्ञा' नाटकका वैशिष्ट्य यही है कि इसमें कहीं भी उदयन और वासवदत्ता रंगमञ्चपर अवतीर्ण नहीं होते, फिर भी कविके कलाकौशलसे वे प्रायः उपस्थित हैं, ऐसा ही प्रतीत होता है।

(१) 'प्रतिज्ञा' नाटकमें महामन्त्री यौगन्धरायण वत्सराज उदयनका बन्दी-अवस्थासे उद्धार करनेके निमित्त सहचरोंसहित 'उन्मत्तक' प्रभृति छद्मवेश धारणकर उज्जयिनी नगरमें प्रच्छन्नरूपसे रहते हैं, एवं यथासमय युद्ध भी करते हैं।

इसका उल्लेख 'स्वप्न' में है—

'मिथ्योन्मादैश्च युद्धैश्च शास्त्रदृष्टैश्च मन्त्रितः'॥
(६। १८)

फलतः 'मुद्राराक्षस'में जिस प्रकार चाणक्यकी क्षुरधार बुद्धिका विकास उपलक्षित है, इस युग्म-नाटकमें भी उसी प्रकार मन्त्रिप्रवर यौगन्धरायणकी असामान्य प्रभु-भक्ति, सूक्ष्म विचार एवं मन्त्रणाकौशल तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व और साहस पद-पदपर प्रस्फुटित है।

(२) दोनों नाटकोंमें ही बहुत पात्रोंकी एकता है—यौगन्धरायण, रुमण्वान्, वसन्तक प्रभृति दोनोंमें ही वर्तमान हैं। अथवा नेपथ्यमें सक्रिय हैं। उज्जयिनीनरेश प्रद्योत 'महासेन' नामसे आख्यात हैं। 'घोषवती' नामक (अर्जुनकी) वीणाका उल्लेख दोनोंमें ही पाया जाता है।

महाकवि भासको वीणा अत्यन्त प्रिय थी, वीणावादनका वर्णन 'अविमारक' में भी है।

(३) स्वदेशमात्मसात्कर्तुरुदयनस्य पद्मावतीपरिणयः अर्थशृङ्गारः। कामशृङ्गारस्तस्यैव वासवदत्तापरिणयः।

(नाटकलक्षणकोष, पृ० ११७ सागरनन्दी)

(४) प्रायः एक ही भाषा वन्द्यघटीय सर्वानन्द (११५९ ई०) ने 'अमरकोषटीका सर्वस्व' पुस्तकमें दी है—

'स्वदिशमात्मसात्कर्तुमुदयनस्य पद्मावतीपरिणयः स्वप्नवासवदत्ते, तृतीयस्तस्यैव वासवदत्तापरिणयः कामशृङ्गारः।'

(महामहोपाध्याय गणपति शास्त्रीके स्वप्नवासवदत्त नाटकके उपोद्घातमें द्रष्टव्य)

दोनों ही नाटक एकत्र उल्लिखित और आलोचित हुए हैं। इससे क्या यह नहीं लगता कि दोनोंके ही प्रणेता एक—महाकवि भास ही थे?—यह बात समालोचकोंको अज्ञात न थी।

(५) 'प्रतिज्ञा' नाटकमें उदयनके वासवदत्ताको लेकर उज्जयिनीसे हाथीकी पीठपर बैठकर पलायन करनेके बाद राजा महासेन परम आनन्दमें चित्रफलककी सहायतासे दोनोंके विवाहका मङ्गलोत्सव सम्पन्न करते हैं—

'तच्चित्रफलकस्थयोर्वत्सराजवासवदत्तयोर्विवाहोऽनुष्ठीयताम् इति।'

(प्रतिज्ञा० ४। २३। ५-६)

'स्वप्न' नाटकके षष्ठ अङ्कके अन्तर्गत मिलनदृश्य वासवदत्ताकी धायके साथ उज्जैनसे प्रेषित इस चित्रफलकसे ही अवतारित है।

'एषा चित्रफलका तव सकाशं प्रेरिता।'

(स्वप्न ६। ११। १३)

अतएव ये दोनों ही नाटक एक ही कविकी कृति हैं—एवं वे कवि भास ही हैं—यह सिद्ध हो गया।

'प्रतिज्ञा' नाटकके वाक्य और श्लोक संस्कृत साहित्यमें एवं 'काव्यालंकार' ग्रन्थमें नाना स्थानोंपर उद्धृत हुए देखे जाते हैं। किसी प्रसिद्ध कविकी रचना न होनेपर ऐसा नहीं हो सकता था। (क्रमशः)

साधुस्वभाव

(लेखक—श्रीमोतीलाल सुराना)

शाम होते-होते बादल और काले हो गये। पहले तो आँधी आयी और फिर जोरकी बरसात होने लगी। सब ओर अँधेरा छा गया। पासका आदमी भी दिखायी न देता था। रात और बरसात, आखिर जायँ कब तो कहाँ?

महात्माको एक दिया-सा टिमटिमाता दिखायी दिया। उसी दिशाकी ओर चल पड़े। एक टूटी-सी छोटी झोंपड़ी दिखी, पास आनेपर। शायद किसी किसानकी होगी। 'बाबा, बाबा', आवाज लगायी महात्माने।

'कौन है?', भीतरसे आवाज आयी। बाबाकी खाँसी बंद होनेके बाद। 'मैं एक संन्यासी हूँ, रास्ता भटक गया हूँ। क्या रातभर आपकी झोंपड़ीमें सो सकता हूँ।'—साधुने पूछा।

'पर यहाँ तो केवल एक आदमीके ही सोनेकी जगह है।' वृद्धने भीतरसे ही कहा—'हाँ, दो व्यक्ति बैठे-बैठे विश्राम कर सकते हैं। दरवाजा खुला है। जागकर रात बिताना हो तो अंदर आ जाओ।'

महात्मा भीतर चले गये। देखा, सचमुच झोंपड़ी बहुत छोटी थी। दियेकी लौसे भी डर लगता था कि कहीं झोंपड़ी आग न पकड़ ले। बाहर बरसात और भी तेज हो गयी थी। बाबाके पास महात्मा भी जाकर बैठ गये। दियेकी रोशनीमें महात्माने देखा कि बाबाके चेहरेपर बड़ा संतोष था।

शायद पाँच मिनिट भी नहीं हुए होंगे कि पुनः बाहरसे आवाज आयी—'भाई! क्या रातभरके लिये आश्रय मिलेगा? मैं एक राहगीर हूँ और रास्ता भूल गया हूँ।'

जवाब दो 'बाबाने महात्मासे कहा'। महात्मा विचारमें पड़ गये—क्या जवाब दूँ, स्थान तो है नहीं। महात्माने जब कुछ जवाब न दिया तो बाबा बोले—

'केवल दो आदमीके बैठनेकी जगह है झोंपड़ीमें। और हम दो भीतर हैं। यदि रातभर खड़े रहनेका आसरा चाहते हो तो भीतर आ जाओ।' बाबाने उत्तर दिया—'हम तीनों रातभर खड़े रहकर यह आपत्तिका समय धैर्यके साथ बिता देंगे।'

मुसाफिर भी दरवाजा धकेलकर भीतर चला गया।



पत्राचार

[कहानी]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

(१)

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २०)

श्रीभगवान् कहते हैं—'हे उद्धव ! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और दान—ये कोई भी समर्थ नहीं हैं ।'

श्याम और श्यामा—दोनों पति-पत्नी उपर्युक्त उपदेशको भलीभाँति ध्यानमें रखकर नित्य नियमसे आनन्दकन्द, व्रजचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्रकी दृढ़भक्तिमें रात-दिन लवलीन रहते थे। उन्हींके प्रभावसे उनकी धी और श्री पुत्रियाँ भी भगवद्भक्तिके महत्त्वको समझकर सदा 'हरिःशरणम्'की रट लगाये रहती थीं ।

दोनों बहनोंकी जन्म-अवधिमें दो वर्षका अन्तर था; किंतु दोनों ही आपसमें एक दूसरीको श्री बहनजी, धी बहनजी कहती थीं । उनमें सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे प्रातःकालसे लगाकर रात्रिके १० बजेतक समयके मूल्यको समझकर एक-एक निमिषका भी सत्कार्योंमें सदुपयोग किया करती थीं। उन्होंने पढ़ा था कि "लिंकनने जमीन नापते समय कानूनका अध्ययन किया था । डा० मेसन गुडने घोड़ेपर चलते समय 'लुकेशियर'का अनुवाद किया था । हमारे संत-महात्माओंने भी समयका सदुपयोग करके हमारी संस्कृतिका वाङ्मय तैयार किया है । देशभक्तोंने जेल-जीवनमें भी समयको नष्ट न कर प्रौढ़ साहित्यका निर्माण किया है, जो हमारा मार्ग-प्रदर्शक है ।"

विवाहके पश्चात् दोनों बहनें ससुराल गयीं और वहाँके कर्तव्योंका पालन करनेमें दत्तचित्त बन गयीं । बिछुड़नेका दोनोंको दुःख तो मनमें था ही, इस दुःखको हल्का करनेके लिये पत्र-व्यवहार ही उनके पास एकमात्र माध्यम रहा ।

एक दिन श्रीने धीको पत्रमें यों लिखा—'प्रिय बहनजी ! आज मैं श्रीराधारमणजीके मन्दिरमें कथा सुननेको गयी थी । वहाँ कथावाचकजीने सर्वप्रथम 'श्रीनन्दकुमाराष्टक' मङ्गलाचरणमें सुनाया—

सुन्दर गोपालं उर वनमालं नयनविशालं दुःखहरम् ।
वृंदावनचंद्रं आनँदकंदं परमानंदं धरणिधरम् ॥
वल्लभ घनस्यामं पूरनकामं अत्यभिरामं प्रीतिकरम् ।
भज नंदकुमारं सबसुखसारं तत्त्वबिचारं ब्रह्मपरम् ॥

धी ! मेरे कानोंमें इस मधुरातिमधुर अष्टकने ऐसा अमृत घोल दिया कि वह हृदयतक पहुँचकर वहीं समा गया है। पश्चात् विद्वान् पण्डितजीने सेवा-धर्मके मर्मको समझाते हुए रन्तिदेवका उदाहरण दिया, जिसमें रन्तिदेव कहते हैं कि—'मैं भगवान्‌से आठों सिद्धियोंसे युक्त परागति या मोक्ष भी नहीं चाहता । मेरी तो केवल यही कामना है कि सम्पूर्ण प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनके दुःखोंको मैं सहन कर लूँ, जिससे उनको दुःख न हो ।'*

यह सुन आज मैंने सेवा-धर्मके विशेष महत्त्वको हृदयङ्गम कर लिया है। मैं यद्यपि यहाँ अभी नयी हूँ, तो भी मेरी ससुरालके सभी सदस्य दुखियोंका दुःख मिटानेमें सदा तत्पर रहते हैं । मैं भी अनुनय-विनयसे उनको अनुकूल बनाकर उनमेंसे किसीके साथ आसपास पड़ोसमें किसी रोगग्रस्तकी सेवा-शुश्रूषा अथवा अनुकूल पथ्यादि देनेको जाया करूँगी ।

आपका कौन-सा कार्यक्रम चल रहा है ? पत्रोत्तर शीघ्र देना ।

आपकी प्रिय बहन—श्री

(२)

धीने पत्रोत्तरमें लिखा—'प्यारी श्री बहनजी ! आपका पत्र पाकर अत्यानन्द प्राप्त हुआ । बचपनमें हम साथ-साथ जो खेल खेला करती थीं, उनकी स्मृति ताजी हो आयी; किंतु अब तो कर्तव्य निभानेके दिन हैं । मेरे यहाँ तो घरपर ही काशीके विद्वान् पण्डित श्रीनाथजी कथा सुनानेको नित्य आते हैं । उनके आनेके पूर्व ही हम सब लोग प्रातःकृत्यसे निवृत्त होकर श्रीराधाकृष्णजीके मन्दिरमें जा श्रृङ्गारके दर्शन

---

* न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । २१ । १२)

कर आ जाते हैं; आज उन्होंने कथाके प्रसङ्गमें भगवद्भक्तोंके सत्सङ्गकी महान् महिमा सुनाते हुए शौनकादि ऋषियोंका अभीष्ट सुनाया, जिसमें वे कहते हैं कि 'भगवद्भक्तोंके सत्सङ्गके एक क्षणकी भी तुलना हम न तो मोक्षसे करते हैं और न स्वर्गसे करते हैं, तब मर्त्यलोकके अभीष्ट ऐहिक सुखोंका तो प्रश्न ही क्या है ?'*

बहनजी ! सत्सङ्गकी अपार महिमाके विषयमें मैंने गोस्वामी तुलसीदासजीकी उक्तियाँ भी पढ़ी हैं। यद्यपि मैं भी यहाँ नयी हूँ; परंतु भगवत्कृपासे मेरे ससुरालके सभी सदस्य भगवत्परायण मुझे मिले हैं। वे मुझे सत्सङ्गतिसे लाभ उठानेके साधन जुटाते रहते हैं। सच है कि—

एक घड़ी आधी घड़ी आधीमें पुनि आध।
तुलसी संगति साधुकी हरै कोटि अपराध॥

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'हे उद्धव ! सत्सङ्गसहित भक्तियोगके सिवा (संसार-सागरसे पार होनेका) और कोई उपाय नहीं है; कारण कि मैं साधु-जनोंका नित्य सहगामी एवं एकमात्र अवलम्ब हूँ।'†

श्रीजी ! करुणावरुणालय श्रीभगवान्की अकारण करुणासे मेरा अधिकांश समय इसी पुण्य-कार्यक्रममें व्यतीत होता है और भवनमें बड़ोंकी सेवा, छोटोंसे, बच्चोंसे, प्रतिवेशियोंसे यथायोग्य प्रेम अथवा सद्व्यवहार रखनेके कारण मैं सबकी प्रिय बन गयी हूँ। शेष श्रीभगवत्कृपा। पत्र जल्दी-जल्दी दिया करो।

आपकी प्रिय—धी

(३)

दोनोंका पत्राचार अबाधगतिसे चल रहा था, किंतु दैवको शायद यह स्वीकार नहीं था। हुआ यह कि श्रीकी अशिक्षित सास प्रेमाने इस प्रसङ्गको लेकर घरमें कलह ठान दिया। उसका कहना था कि श्री पत्रोंमें यहाँकी बुराइयाँ लिखकर भेजती रहती है। इस शङ्काके कारण वह श्रीको सदा धमकाया करती थी। श्रीका मातृ-भक्त युवक पति रमेश माताके इस दुर्व्यवहारको चुपचाप सह लेता था। परिणाममें पत्राचार तो रुक ही गया, पर श्री सोचने लगी कि "माताजीको यह असत्य संदेह हुआ ही क्यों ? कारण खोजनेपर उसे ज्ञात हो गया कि पड़ोसकी अपढ़ वधू ऐसा ही करती है। इसलिये उनके भवनमें सदा क्लेश रहनेसे शान्ति, सुख, एकता, भगवद्विश्वास, भगवत्पूजा-अर्चना, परोपकार, अतिथि-सत्कार, समयका सदुपयोग, आपसी प्रेम कुछ नहीं हो पाते और धर्माधर्मका विचार दूर रहनेसे सत्य उपार्जन भी नहीं हो पाता। अन्य पड़ोसी उस परिवारको अपने पास रखना भी पसंद नहीं करते। परंतु हमारे घरमें तो प्रत्येक सदस्यके मानसमें सात्त्विकता, प्रेम, आपसमें सद्भाव और मिल-जुलकर रहनेके गुणोंकी मन्दाकिनी बहती रहती है। फिर पूज्य माताजी (सास) पर पड़ोसकी इस अशुद्ध वायुका प्रकोप कैसे लग गया ? यों ही मैं अब इनको अहोरात्र इनकी भाँति-भाँतिसे सेवा करके प्रसन्न करूँगी; सेवा-में बड़ा बल है। मैं जानती हूँ कि 'जहाँ दधिमन्थनका घोष न हो, छोटे-छोटे बालक न हों, जहाँ गुरुजनोंके गौरवकी पूजा न होती हो, वह घर, घर नहीं, वन है।' ‡ पद-सेवा न कराते हुए माताजी यदि लात भी मार देंगी, तो मैं धैर्यके साथ सहन कर लूँगी। विदेशी महिला भगिनी निवेदिताने भी तो भारतकी सेवा करते हुए प्रथम तिरस्कार सहे थे।"

इन विचारोंके साथ श्रीने तन-मनसे प्रेमाकी सेवा करना प्रारम्भ कर दिया, किंतु कठोरहृदया प्रेमा कठोर ही बनी रही। वह धीके जितने पत्र आते सब छिपाकर रख लिया करती थी। यह होते हुए भी श्रीने प्रेमाकी तरह-तरह-से सेवा करना नहीं छोड़ा। उसने विधिपूर्वक 'श्रीरामरक्षा-स्तोत्र' का पाठ करना भी शुरू कर दिया।

इधर, धीको प्यारी भगिनी श्रीकी ओरसे पत्रोत्तर न मिलनेसे बेचैनी हो गयी। वह बहनके किसी अशुभकी आशङ्कासे रात-दिन चिन्तित रहने लगी। उसका मन इस मोहके कारण श्रीभगवत्पूजामें भी नहीं लगता था, किंतु परिवारके किसी भी व्यक्तिको उसने यह भेद नहीं बताया। वह मन-ही-मन इस क्लेशको मिटानेके लिये उठते-बैठते, सोते-जागते—

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥

---

* तुल्याम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

† प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ११। ४८)

‡ यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो यत्र नो हि लघवः शिशवश्च।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा तानि किं बत गृहाणि वनानि॥
(सुभाषितरत्नभाण्डागार)

—इस मन्त्रका जप करने लगी । उसने तार भी अपनी बहनको दिये, किंतु उत्तर नहीं मिला। इससे उसकी आशङ्काएँ और भी बढ़ गयीं। चिन्ताका पार नहीं रहा।

उधर श्रीके द्वारा प्रेमाकी पद-चाप-सेवा श्रद्धापूर्वक निरन्तर चलती रही। कुछ दिनोंके पश्चात् रक्त-मांस-मज्जा-विहीन अस्थि-चर्मयुक्त प्रेमाके तनको सुख मिलते रहनेसे प्रेमा प्रसन्न होकर पुत्रवधूको अनेक आशीर्वाद देने लगी। उसने धीके छिपाये हुए पत्रादि श्रीको देते-देते अश्रुधारा बहा दी और अत्यन्त प्रसन्नतासे कहा कि 'बेटी ! आज मेरा शत्रु क्रोध भाग गया है। प्रभुकी असीम अनुकम्पासे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है।'

फिर तो दोनों बहनोंमें पुनः पत्राचार जारी हो गया।*

पतितपावन

लङ्का-अभियानके अन्तर्गत समुद्रपर सेतु बनानेका कार्य बहुत जोर-शोरसे चल रहा था। सभी व्यस्त थे। नल-नील तो मानो आज अपनी सारी सुध-बुध भूल एकचित्त हो कार्यरत थे। वे ऊबड़-खाबड़ पत्थरोंपर 'राम'के पवित्र शब्दोंको अंकित करते और फिर उन पत्थरोंको पास खड़े साथी वानरोंको थमा देते। वानर उन पत्थरोंको अधबने सेतुके अग्रभागपर तैराते जाते।

वानर हताश न हों, अतः वृद्ध जाम्बवन्त अपनी बेसिर-पैरकी बातोंसे भी सबको हँसाते रहते। वीर हनुमान् उन्हें अधिक बतियाते देख टोक देते—'अरे, काम करो, काम''''।' ऐसी ही कटु-मृदु अनुभूतियों, जाति-बान्धवोंके साहचर्यमें भूख-प्यास भूल सभी वानर सेतु-निर्माणमें जुटे हुए थे। उन्हें तो लङ्काके उस पार पहुँचना था और लङ्कापति रावणकी नीचताका उत्तर देना था। माँ सीताको उस नराधमकी कैदसे छुड़ाना था।

पास ही एक वृक्षकी छायामें बैठे भगवान् राम किन्हीं गूढ़ विचारोंमें डूबते-उतराते सामने बन रहे सेतुपर कार्य करते हुए उन करोड़ों वानरोंकी व्यस्तता देख रहे थे। उनकी दृष्टि समुद्रके उस पार दूर-बहुत दूर''''पर लङ्काके अदृश्य चमकते परकोटोंपर लगी हुई थी।

अचानक भगवान् रामकी दृष्टि एक गिलहरीपर पड़ी। वह छोटा-सा प्राणी उनके सम्मुख बहुत देरसे फुदक रहा था। पर, अचानक ही भगवान् रामकी विचार-तन्द्रा टूटी और उन्होंने एक गहरी श्वास खींचते हुए गिलहरीके कार्य-कलापोंकी ओर ध्यान दिया।

उन्होंने देखा कि वह नन्ही गिलहरी पहले समुद्रमें डुबकी लगाती है। फिर पास पड़ी रेतमें लोट-पोट करती है और अन्तमें फुदकती हुई सेतुपर दौड़ती चली जाती है। यही क्रम वह बार-बार दोहराती है। उन्हें उसका यह कार्य कुछ आश्चर्यजनक तो लगा, पर वे कुछ समझ न सके।

दुनियामें भगवान् कहे जानेवाले रामने चुपके-से गिलहरीको पकड़ लिया और उसे अपने कर-कमलोंपर बैठा लिया। वह छोटी-सी गिलहरी भगवान्‌को अपलक निहारे जा रही थी, मानो वह कोई ऐसी वस्तु देख रही हो, जो उसे पुनः देखनेको नहीं मिलेगी। ठीक भी तो था उसका सोचना। भला विश्वमें ऐसा तो कोई ही भाग्यशाली होगा, जिसे परम-पिताके पावन-कर-कमलोंका सुखद आनन्द प्राप्त हो सके। उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त कर सके।

भगवान् रामने गिलहरीसे प्रश्न किया—'क्यों री गिलहरी! तू यह उछल-कूद क्यों कर रही है? क्या तुझे नहीं सुहाता यह सेतु-निर्माण? क्या तुझे यह प्रिय नहीं लगता कि मेरी सीता मुझे प्राप्त हो सके?'

भगवान्‌के प्रश्नोंकी बौछारसे गिलहरी थोड़ा सकपका गयी। फिर बोली—'नहीं देव! ऐसी अप्रिय बात न कहें। मैं तो''''''''''

—'हाँ, हाँ निःसंकोच हो कह, जो भी कहना चाहती हो''''।' भगवान्‌ने आश्वासन दिया।

—'प्रभु, बात यह है कि यह जो सेतु बन रहा है न, वह बहुत ऊबड़-खाबड़ और ऊँचा-नीचा है। अतः उसे सपाट तथा चिकना करनेके लिये मैं गीले शरीरमें रेता चिपका लाती हूँ और उसे सेतुके कंकरीले पथपर झाड़ देती हूँ। ताकि आप जब उसपर चलें तो आपको कष्ट न हो''''।' गिलहरीका स्वर हिचकियोंमें डूब गया।

—'ओह!'—भगवान् एक लंबी आह भरते हुए उसके रोयेंदार शरीरपर अपना वरद-हस्त फेरने लगे। गिलहरी धन्य हो गयी। भगवान्‌के नेत्रोंमें आँसू छलछला आये, अपने भक्तके भोलेपनपर वे मुग्ध हो उठे थे।

कहते हैं कि तभीसे गिलहरीके शरीरपर तीन रेखाएँ बन गयीं। ये रेखाएँ उन्हीं पावन अंगुलियोंके निशान हैं, जो प्रभुकी 'भक्तवत्सलता'का सदैव स्मरण दिलाती रहती हैं।

—प्र० त्रि० 'दीपकर'

* इस सत्य कहानीमें नाम कल्पित हैं—लेखक

सिद्धिप्रद श्रीशिव-कवच

(प्रेषक—पं० श्रीरामस्वरूपजी शास्त्री 'अमर', काव्यतीर्थ, साहित्यपुराणेतिहासधर्मशास्त्राचार्य)

शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।'—'अच्छी प्रकार जाना हुआ एवं सुप्रयुक्त किया गया एक शब्द, स्वर्गमें और लोक (संसार) में कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला होता है।' फिर देवभाषाका शब्द तो मन्त्र ही बन जाता है। मन्त्रके द्वारा बड़े-से-बड़े कठिन कार्य सिद्ध हो जाते हैं—

'मन्त्राधीनं जगत् सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।'—मन्त्रके वशमें सारा संसार है और मन्त्रके अधीन देवता भी हो जाते हैं। परंतु—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

'मन्त्र, तीर्थ, द्विज, दैव, ज्योतिषी, ओषधि एवं गुरुपर जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है।' अतः सिद्धिकी सुलभताके लिये साधकको श्रद्धामयी शुद्ध भावना रखना परमावश्यक है। यह श्रीशिव-कवच सद्यः सिद्धिदाता है। इसे भगवान् श्रीशिवके एक परमभक्तने जिज्ञासुको बताया था और उन्हें इसके शुद्ध-सत्य अनुष्ठानसे एक भयंकर विपदासे छुटकारा मिल गया था। सर्वसाधारणके लाभार्थ, अति प्राचीन ग्रन्थसे समुपलब्ध, यह सिद्धिप्रद श्रीशिव-कवच 'कल्याण'में समस्त आस्तिक भक्तोंके हितार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। इस 'श्रीशिव-कवच' के विनियोग, न्यासादि तथा ध्यान निम्नलिखित हैं—

अथ विनियोगः

अस्य श्रीशिवकवचस्तोत्रमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीसदाशिवरुद्रो देवता, ह्रीं शक्तिः, रं कीलकम्, श्रीं ह्रीं क्लीं बीजम्। श्रीसदाशिवप्रीत्यर्थे शिवकवचस्तोत्र-जपे विनियोगः॥

(यह मन्त्र पढ़कर जल छोड़ दें।)

अथ न्यासः

ॐ नमो भगवते ज्वलज्ज्वालामालिने ॐ ह्रां सर्वशक्ति-धाम्ने ईशानात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ नमो भगवते ज्वलज्ज्वालामालिने ॐ नं रिं नित्यतृप्तिधाम्ने तत्पुरुषात्मने तर्जनीभ्यां नमः। ॐ नमो भगवते ज्वलज्ज्वालामालिने ॐ मं रुं अनादिशक्तिधाम्ने अघोरात्मने मध्यमाभ्यां नमः। ॐ नमो भगवते ज्वलज्ज्वालामालिने ॐ शिं रैं स्वतन्त्र-शक्तिधाम्ने वामदेवात्मने अनामिकाभ्यां नमः। ॐ नमो भगवते ज्वलज्ज्वालामालिने ॐ वां रौं अलुप्तशक्तिधाम्ने सद्योजातात्मने कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ नमो भगवते ज्वलज्ज्वालामालिने ॐ यं रः अनादिशक्तिधाम्ने सर्वात्मने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः॥

(इस प्रकार मन्त्र बोलकर करन्यास करें। इसके बाद इसी क्रमसे उपर्युक्त मन्त्र बोलकर 'हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, नेत्रत्रयाय वौषट्, कवचाय हुम्, अस्त्राय फट्,'—यों अङ्गन्यास करें।)

अथ दिग्बन्धः

ॐ भूर्भुवः स्वः।

(इस मन्त्रको बोलकर दिग्बन्ध करें।)

ध्यानम्

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि॥

(इस मन्त्रसे ध्यान करें।)

[ये सब कुछ भी न कर सकें तो श्रद्धाभक्तिपूर्वक नीचे दिये कवचका पाठ करें।]

साधकको निम्नलिखित परम दुर्लभ सिद्धिप्रद श्रीशिवकवचका श्रद्धाभक्तिपूर्वक शुद्धोच्चारण करते हुए नित्य-नैमित्तिक क्रियाओंके उपरान्त पाठ करना चाहिये। इससे निस्संदेह ही साधक (भक्त) की मनोरथ-सिद्धि होगी।

'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'—इस बातका ध्यान श्रीशिवकवचके पाठकर्ताको सदा रहना चाहिये।

श्रीशिवकवचम्

ॐ नमो भगवते सदाशिवाय, सकलतत्त्वात्मकाय, सर्वमन्त्रस्वरूपाय, सर्वमन्त्राधिष्ठिताय, सर्वतन्त्रस्वरूपाय सर्वतत्त्वविदूराय, ब्रह्मरुद्रावतारिणे, नीलकण्ठाय, पार्वतीमनोहरप्रियाय, सोमसूर्याग्निलोचनाय, भस्मोद्धूलितविग्रहाय, महामणिमुकुटधारणाय, माणिक्यभूषणाय, सृष्टिस्थितिप्रलयकालरौद्रावताराय, दक्षाध्वरध्वंसकाय, महाकालभेदनाय, मूलाधारैकनिलयाय, तत्त्वातीताय, गङ्गाधराय, सर्वदेवाधिदेवाय, षडाश्रयाय, वेदान्तसाराय, त्रिवर्गसाधनायानेककोटिब्रह्माण्डनायकायानन्तवासुकितक्षककर्कोटकशङ्खकुलिकपद्ममहापद्मेत्यष्टनागकुलभूषणाय, प्रणवस्वरूपाय, चिदाकाशायाकाशदिक्स्वरूपाय, ग्रहनक्षत्रमालिने, सकलाय, कलङ्करहिताय, सकललोकैककर्त्रे, सकललोकैकसंहर्त्रे, सकललोकैकगुरवे, सकललोकैकभर्त्रे, सकललोकैकसाक्षिणे, सकलनिगमगुह्याय, सकलवेदान्तपारगाय, सकललोकैकवरप्रदाय, सकललोकैकशङ्कराय, शशाङ्कशेखराय, शाश्वतनिजावासाय, निराभासाय, निरामयाय, निर्मलाय, निर्लोभाय, निर्मोहाय, निर्मदाय, निश्चिन्ताय, निरहङ्काराय, निराकुलाय, निष्कलङ्काय, निर्गुणाय, निष्कामाय, निरुप्लवाय, निरवद्याय, निरन्तराय, निष्कारणाय, निरातङ्काय, निष्प्रपञ्चाय, निःसङ्गाय, निर्द्वन्द्वाय, निराधाराय, नीरोगाय, निष्क्रोधाय, निर्गमाय, निष्पापाय, निर्भयाय, निर्विकल्पाय, निर्भेदाय, निष्क्रियाय, निस्तुल्याय, निस्संशयाय, निरञ्जनाय, निरुपमविभवाय, नित्यशुद्धबुद्धपरिपूर्णसच्चिदानन्दाद्वयाय, परमशान्तस्वरूपाय, तेजोरूपाय, तेजोमयाय, जयजयरुद्रमहारौद्र, भद्रावतार, महाभैरव, कालभैरव, कल्पान्तभैरव, कपालमालाधर, खट्वाङ्गखड्गचर्मपाशाङ्कुशडमरुकरत्रिशूलचापबाणगदाशक्तिभिन्दिपालतोमरमुसलमुद्गरप्रासपरिघभुशुण्डीशतघ्नीचक्राद्यायुधभीषणकर, सहस्रमुख, दंष्ट्राकरालवदन, विकटाट्टहासविस्फारितब्रह्माण्डमण्डल, नागेन्द्रकुण्डल, नागेन्द्रहार, नागेन्द्रवलय, नागेन्द्रचर्मधर, मृत्युञ्जय, त्र्यम्बक, त्रिपुरान्तक, विश्वरूप, विरूपाक्ष, विश्वेश्वर, वृषवाहन, विश्वतोमुख, सर्वतो रक्ष रक्ष माम् । ज्वल ज्वल, महामृत्युमपमृत्युभयं नाशय नाशय; चौरभयमुत्सारयोत्सारय; विषसर्पभयं शमय शमय; चौरान् मारय मारय; मम शत्रूनुच्चाटयोच्चाटय; त्रिशूलेन शत्रून् उच्चाटयोच्चाटय; त्रिशूलेन विदारय विदारय; कुठारेण भिन्धि भिन्धि; खड्गेन छिन्धि छिन्धि; खट्वाङ्गेन विपोथय विपोथय; मुसलेन निष्पेषय निष्पेषय; बाणैः संताडय संताडय; रक्षांसि भीषय भीषयाशेषभूतानि विद्रावय विद्रावय; कूष्माण्डवेतालमारीचब्रह्मराक्षसगणान् संत्रासय संत्रासय; मामभयं कुरु कुरु; वित्रस्तं मामाश्वासयाश्वासय; नरकभयान्मामुद्धरोद्धर; सञ्जीवय सञ्जीवय; क्षुत्तृड्भ्यां मामाप्याययाप्यायय; दुःखातुरं मामानन्दयानन्दय; शिवकवचेन मामाच्छादयाच्छादय; मृत्युञ्जय ! त्र्यम्बक !! सदाशिव !!! नमस्ते नमस्ते ॥

यह श्रीशिवकवच अत्यन्त प्राचीन, अनुभूत, सद्यःफलप्रद तथा सिद्धिदाता है। प्रतिदिवस पवित्र हो इसका जाप करनेवाले श्रद्धालु आस्तिकोंको ऐहिक और पारलौकिक पुण्यकी सम्प्राप्ति होती है।

कामके पत्र

(१)

अनन्य श्रद्धाका स्वरूप

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण ! आपका कृपापत्र मिला। उत्तर देरसे जा रहा है, कृपया क्षमा कीजियेगा।

आपके प्रश्नोंका वास्तवमें शब्दोंसे उत्तर नहीं दिया जा सकता। किसी सच्चे अनन्य श्रद्धालु पुरुषका जीवन ही उनका उत्तर होता है। तथापि आपके आग्रहके कारण कुछ विचार नीचे प्रकट कर रहा हूँ। आप उनपर मनन कीजियेगा, यह प्रार्थना है।

श्रद्धाका तब पता लगता है, जब, जिनमें हमारी श्रद्धा हम मानते हैं, उन महानुभावका कोई कार्य हमारे मतसे सर्वथा प्रतिकूल हो रहा हो और हमारी बुद्धिके अनुसार जिससे कोई लोकहित भी न हो और न परमार्थके साधनमें ही सहायता मिलती हो। श्रद्धेय महापुरुषके इस प्रकारके विपरीत निर्णय और आचरणके समय भी हमारे मनमें श्रद्धा अक्षुण्ण बनी रहे। उनका वह कार्य हमें किसी भी प्रकारसे प्रतिकूल तो प्रतीत हो ही नहीं, बल्कि हमारा मन उनके अनुकूल उस कार्यमें योगदान करनेकी इच्छा करे।

हमलोग जिनको महात्मा या महापुरुष मानते हैं, वे यदि वास्तवमें महापुरुष या महात्मा हैं तो उनका कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता, जिससे किसीका परिणाममें अकल्याण हो या जो परमार्थविरोधी हो। जो त्रिगुणजनित विकारों तथा प्राकृतिक द्वन्द्वोंसे परे हैं, जो चराचर सबमें सदा अपने आत्माका अनुभव करते हैं, जो नित्य स्वस्थ (आत्मस्थ) हैं, या जो चराचर अखिल विश्वमें सदा श्रीभगवान्‌का अव्यवधान दर्शन-स्पर्श प्राप्त करते हैं, उनके द्वारा सबको सहज ही वैसे ही कल्याण प्राप्त होता है, जैसे अमृतके द्वारा अमरत्व।

ऐसे संत-महापुरुष, भगवान्‌की भाँति सर्वज्ञ नहीं भी होते, तो भी, भविष्यज्ञ—कम-से-कम अपने वातावरणसे सम्बद्ध भविष्यके ज्ञाता तो अवश्य ही होते हैं, वे भविष्यद्रष्टा या दूरद्रष्टा होते हैं, इसलिये वे बहुत दूरकी चीजको, सुदूर भविष्यके अच्छे-बुरे परिणामको प्रत्यक्षवत् देख सकते हैं। अतः वे जो कुछ निर्णय या कार्य करेंगे, वह सर्वथा कल्याणकारक ही होगा। सम्भव है, उनका वह बाहरी आचरण अभी हमारी समझमें न आवे या हम अपनी दृष्टिके अनुसार उसमें दया, प्रीति, समता, त्याग आदि न देखें, हमें उसमें दोष ही दिखायी दे; पर यह हमारी अज्ञानदृष्टि है, महात्माका स्वरूप नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥

छोटे अज्ञान बच्चेके फोड़ेको माँ बड़ी कठोर हृदयवाली-सी बनकर किसी जर्राहसे चिरवाती है। बच्चा रोता है, माँको भला-बुरा कहता है, पर बच्चेका कल्याण चाहनेवाली माँ अथवा माँके कार्यका अर्थ समझनेवाले समझदार लोग क्या उसे बुरा मानते हैं ? बल्कि वे भी माँकी सहायता करते हैं। इसी प्रकार महात्मा पुरुष कभी-कभी 'वज्रादपि कठोर' हो जाते हैं। पर उनका वह व्यवहार-आचरण निश्चय ही कल्याणकारी होता है; क्योंकि उनका हृदय सदा ही सहज कल्याणमय और 'कुसुमादपि मृदु है। अतः उनके व्यवहारमें हर हालतमें अनुकूलता देखनेवाला ही वास्तविक श्रद्धालु है।

एक महात्माने दो भक्तोंको, जो सर्वथा निर्दोष माने जाते थे, आश्रमसे निकलवा दिया था। उन दोनोंमें एक अनन्य श्रद्धालु था, उसको तो इससे सहज आनन्दकी उपलब्धि हुई। उसने कहा—'हमें दूर रखनेमें निश्चय ही हमारा कल्याण है, हम सर्वथा उनके अपने हैं, वे सर्वथा अपना मानते हैं; इसीसे दयापरवश होकर वे हमें दूर भेज रहे हैं। यह उनका प्रेम-पुरस्कार है।' वह हँसता हुआ गया। दूसरेने सोचा—'उन्होंने किया तो मेरा कल्याण ही है, जो दण्ड दिया है; परंतु मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया, क्या दोष बन गया, जिसके कारण उन्हें ऐसा करना पड़ा।' वह संकल्प-विकल्प करता हुआ गया।

कुछ लोगोंको महात्माजीका यह कार्य बुरा लगा, पर उसके कुछ समय बाद एक ऐसी घटना हुई, जिससे यह सिद्ध हो गया कि वे दोनों आश्रममें रहते तो उनका और आश्रमका बहुत ही नुकसान होता। उनके चले जानेसे

दोनों ही इस नुकसानसे बच गये। तब लोगोंकी समझमें आया कि महात्माने उनके साथ कड़ा बर्ताव क्यों किया था ?

हाँ, जो वास्तवमें महात्मा नहीं हैं, दम्भ करते हैं, वासनाओंके दास हैं, भोगासक्त तथा काम-कलुषित-चित्त हैं—ऐसे नामधारी मिथ्या महात्माकी किसी भी अनुचित बात या क्रियाका कभी समर्थन नहीं करना चाहिये। पर 'वे महात्मा हैं या नहीं ?' यह पता कैसे लगे ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें सच्ची 'अनन्य श्रद्धा' होती है, उसके मनमें न तो संदेह होता है, न पता लगानेकी ही कभी कल्पना होती है; क्योंकि उसकी वह 'अनन्य श्रद्धा' उस व्यक्तिका नित्य-निरन्तर निश्चित महात्माके रूपमें ही उसे दर्शन करवाती रहती है और उसकी उस सच्ची श्रद्धाके फलस्वरूप वह व्यक्ति दुरात्मा होनेपर भी भगवद्विधानसे उसके लिये 'महात्मा' ही सिद्ध होता है। यों उसके लिये विष भी अमृत हो जाता है।

जहाँ 'अनन्य श्रद्धा' न होकर 'विचारवती श्रद्धा' होती है, वहाँ जो कार्य अपनी विवेकबुद्धिसे और शास्त्रदृष्टिसे अनुचित लगे, उसका अनुकरण तथा समर्थन तो करना ही नहीं चाहिये, वरं आज्ञा देनेपर भी उसका पालन नहीं करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि गुरुजनोंकी उस शास्त्रविपरीत दीखनेवाली आज्ञाका पालन तो करना चाहिये, जिससे परिणाममें अपनेको दुःख, पीड़ा, संताप होनेकी सम्भावना हो, पर जिससे उनका निश्चितरूपसे हित होता हो। पर जिस आज्ञाके पालनसे उन आज्ञा देनेवालोंका भी परिणाममें अहित दीखता हो, उन्हें दुःख-पीड़ा-संताप होनेकी सम्भावना प्रतीत होती हो, उसका पालन नहीं करना चाहिये।

अतएव मेरा आपसे यही निवेदन है कि इस प्रकारके अवसरपर यदि उनके प्रति आपकी 'अनन्य श्रद्धा' हो तो उन महात्माके प्रत्येक कर्मको निश्चय ही कल्याणकारी समझिये और मनकी किसी भी वृत्तिसे उसका कदापि जरा भी विरोध मत कीजिये और 'अनन्य श्रद्धा' होनेपर आप स्वयं विरोध कर सकेंगे ही नहीं। नहीं तो, आपकी विवेक-बुद्धि, जो-कुछ भी, जैसा भी निर्णय करे, तदनुकूल, भगवान्‌की सेवाके भावसे—मनमें किसीके प्रति द्वेष न रखकर, काम कीजिये। इससे भी कोई हानि नहीं होगी, वरं आपके क्षेत्रमें अनुकूल लाभ ही होगा।

शेष भगवत्कृपा !

(२)

अपनी भूलके लिये क्षमा माँगना ऊँचापन है

सम्मान्य तथा प्रिय महोदय, सादर हरिस्मरण ! स्वभाव-दोष तथा शरीरकी अस्वस्थताके कारण उत्तर कुछ देरसे जा रहा है, कृपया क्षमा कीजियेगा। आपका दूसरा स्मृतिपत्र भी परसों मिल गया था।

आपने घटनाका जो वर्णन लिखा और उसपर 'अपने हितकी दृष्टिसे तथा मेरे लिखनेके अनुसार ही आप करेंगे'—यह लिखते हुए मेरी संकोचरहित सम्मति चाही, यह आपका शील है। आपने मुझपर इतना विश्वास किया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मेरी तुच्छ सम्मतिमें जो बात ठीक प्रतीत होती है, वह लिख रहा हूँ। हो सकता है—कहीं भूलसे कुछ अनुचित लिख जाऊँ, पर मुझे अपनी रायके हितकारक होनेमें संदेह नहीं है; किंतु आप इसे पूर्णरूपसे मानकर ऐसा ही करें—यह मेरा आग्रह नहीं है। आपकी शान्त विवेक-बुद्धि जैसी कुछ सम्मति दे, जिसमें आपको अपना कल्याण प्रतीत हो, आप वही कीजिये।

जो किसीका अपमान-तिरस्कार करके गौरव मानते हैं, गर्व करते हैं, वे तो असुर हैं, उनके दोष सहज ही मिटेंगे नहीं और उनकी निश्चित ही दुर्गति भी होगी। मनुष्यकी बुद्धि जब तमोगुणसे ढक जाती है, तब ऐसा ही होता है। आपको 'अपनी भूल-सी भी मालूम होती है, किंचित् पश्चात्ताप भी होता है और भूल हो तो उसे मानने तथा हृदयसे आप उसका सुधार करना चाहते हैं'—यह आपकी दैवी सम्पदाका एक लक्षण है। इसीसे मैं भी आपको लिखनेका साहस कर रहा हूँ।

मेरी समझसे आपने बड़ी भूल की है। उक्त सज्जन आपके सामने बोले, उन्होंने कटु शब्द कहे—यह अवश्य उनका दोष है। पर इससे पहले आपके द्वारा प्रकारान्तरसे उनकी कुछ अवज्ञा हो चुकी थी। उसकी उनके मनमें छिपी जलन थी। आपसे यदि उन्हें स्नेहपूर्ण वचन-सुधाधारा मिलती तो वह छिपी आग बुझ जाती, उनका हृदय शीतल-शान्त हो जाता; पर आप भी आवेशमें आ गये। मनुष्य जब आवेशमें आता है, तब उसको क्रमशः सम्मोह, स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाशकी स्थिति प्राप्त होती

है; उस समय वह 'सर्वनाश' कर बैठता है। आपसे भी किसी अंशमें आवेशके वश होनेके कारण ऐसा ही हो गया।

आप यह जानते ही हैं कि प्राणीमात्र—खास करके मनुष्य सहज ही सम्मान चाहता है। अतएव वह किसीके द्वारा भी किया हुआ जरा-सा भी अपमान सहन नहीं कर सकता। समर्थ होता है या आवेशमें आ जाता है तो वह बदलेमें उतना ही या उससे भी अधिक अपमान कर बैठता है और असमर्थ होनेपर मन-ही-मन शाप देता है। उसके हृदयमें एक जलन पैदा हो जाती है, जो अपमान करनेवालेको जलते देखकर ही प्रायः शान्त होती है। अतएव भाव तथा संकेतसे भी कभी किसीका अपमान न करे; वाणीसे तो कभी करे ही नहीं। खास करके जो अपनेसे किसी प्रकार नीचे पदपर हों, उनके लिये तो विशेष सावधानी रक्खे। किसी भी छोटे-से-छोटे मनुष्यका भी कभी अपमान न करे;—बहुत नीचे नौकरों तथा छोटे बच्चोंका भी नहीं, पशु-पक्षीका भी नहीं। सम्मानसूचक मधुर सुधावाणीसे सबको अमृत देकर आप्यायित करता रहे। आपके द्वारा यह बड़ी भूल हुई कि आपने उनके भली नीयतसे किये हुए कामकी भी अभिमान-वश निन्दा की, उसे न करनेका आदेश दिया और उनकी भलाई तथा नेकनीयतीका आदर न करते हुए रूखे, कड़े तथा अपमानसूचक शब्दोंका उनके प्रति प्रयोग किया। संतोंका तो यह स्वभाव होता है कि वे गाली—शाप देनेवालों तथा प्रत्यक्ष अनिष्ट करनेवालोंका भी सम्मान करते तथा उनका सहज ही हित चाहते हैं। 'मंद करत सो करत भलाई।' भगवान्ने (गीता १२। १३ में) भक्तके लक्षण बतलाते हुए आरम्भमें ही कहा—'वह सर्वत्र द्वेषरहित, सबसे मैत्रीभावसे बर्तने-वाला, करुण-हृदय, ममता तथा अहंकारसे रहित, अपने सुख-दुःखमें समबुद्धि रखनेवाला तथा क्षमावान्—बुरा करनेवालेका भी भला करनेवाला होता है।' यह संत-स्वभाव न सही, कम-से-कम अपनी ओरसे तो कभी किसीका अपमान न करे। किसीका जी न दुखावे। अपमान करनेपर उसके मनमें बैठे हुए भगवान्को संताप होता है, उसके मनमें द्वेष उत्पन्न होता है, वह कोई अच्छा काम कर रहा हो तो उसमें बाधा आती है, वैरका बीज बोया जाता है, हिंसा-प्रतिहिंसाके पापका प्रारम्भ हो जाता है, अशान्ति पैदा होती है और दूसरेके मनके भावानुसार अपने मनमें भी वे सारे दोष आने लगते हैं। अतएव किसी भी प्रकार-का अभिमान न करके सदा विनय-विनम्र रहे। मनुष्यको धनका, बुद्धिका, विद्याका, पदका, अधिकारका, ऐश्वर्यका, शक्तिका, सम्मानका, दानका, सत्कर्मका—यहाँतक कि सदाचारका, तपका, साधनका, सेवाका और त्यागतकका अभिमान हो जाता है और अभिमानके कारण उसका पतन हो जाता है—लोकदृष्टिमें भी और वास्तविक अपनी स्थितिसे भी। सुतरां, इस अभिमानसे बचे। भगवान् भी अभिमानके साथ द्वेषकी तथा दैन्यके साथ प्रेमकी लीला करते हैं—

'ईश्वरस्याभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च।'

(नारदभक्ति-सूत्र २७)

अतएव मेरी तुच्छ सम्मति मानें तो आप संकोच और झेंप छोड़कर सहर्ष अपनी भूल स्वीकार करते हुए उनसे क्षमा माँग लें। भविष्यमें ऐसा न करनेकी मन-ही-मन प्रतिज्ञा करें। वे एक बारमें क्षमा न करके, आपसे न बोलें, रूखा बर्ताव करें, कड़े बोलें, अपमान करें तो उसे सह लें और मनमें सच्चा पश्चात्ताप करते हुए उनसे बार-बार क्षमा माँगें और क्षमा-याचनाका भी कभी अभिमान न करें। याद रक्खें, क्षमा-प्रार्थना करनेवाला कभी नीचा नहीं होता।

क्षमा-याचना, सेवा, सद्व्यवहार, नम्रता आदिके द्वारा उनके मनकी सारी जलन बुझा दें और उसमें रही हुई द्वेषकी भावनाका सर्वथा नाश कर दें। मनुष्य अपने सद्व्यवहारसे शत्रुको भी मित्र बना सकता है। पर कदाचित् ऐसा न भी हो, वे प्रसन्न न भी हों तो कम-से-कम आप अपने मनसे द्वेष या वैर-भावनाको सर्वथा निकालकर उसे सर्वथा शुद्ध कर लें।

मुझे परलोकके एक प्राणीने अपनी आँखोंदेखी बात बतलायी थी कि 'जो द्वेष या वैर लेकर मरता है, उसकी नरकोंमें बड़ी ही दुर्गति होती है।' आप ऊँचे हैं, बहुत विद्वान् हैं, आपके पास अधिकार है—यह सत्य है, पर इससे तो आपको और भी नम्र

होना चाहिये । तराजूका जो पलड़ा भारी होता है, वह नीचा होता है । ऊँचा वही है जो नीचे-से-नीचेमें भगवान्‌को देखकर—उसको अपने मनमें ऊँचा मानकर उसका सम्मान, नमन, हित-साधन करता है और अपने लिये तो—साधक—

'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधा ।

'सम्मानको भीषण विषके समान तथा नीचापमानको अमृतके समान समझे ।' यह न हो तो, कम-से-कम द्वेषकी भावनाको सर्वथा निकालकर सबका सम्मान, सबका हित, सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करें । निश्चय समझें—सबमें एक भगवान् हैं, अपने प्रत्येक कर्मद्वारा उनकी पूजा करें, उनकी सेवा करें ।

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

भगवान्‌से यह प्रार्थना नित्य कातर भावसे कीजिये—

विनती तुमसे है यही, हे मेरे भगवान ।
कभी किसीका भी नहीं हो मुझसे अपमान ॥
सबमें देखूँ तुम्हींको छोड़ सभी अभिमान ।
सबकी सेवा-हित करूँ सबको दूँ सम्मान ॥

शेष भगवत्कृपा ।

परमार्थकी पगडंडियाँ

शरीर तो पराधीन है; मनुष्य चाहे तो उसका मन उसके अधीन हो सकता है और मनके द्वारा वह चाहे जहाँ निरन्तर रह सकता है; उसे कोई भी, जरा भी रोकनेवाला नहीं । मनकी संनिधि ही वास्तविक पास रहना है । शरीर बिल्कुल पास रहनेपर भी मनुष्य मनकी दूरीसे बहुत-बहुत दूर रहता है; उसे कभी समीपताका अनुभव होता ही नहीं । ऐसे हजारों उदाहरण हैं । मनकी निकटस्थता इतनी होती है कि कभी क्षणभरके लिये भी जरा-सी भी दूरी, जरा-सा भी व्यवधान, कुछ क्षणोंके लिये भी दूर होना सम्भव नहीं होता । इसके भी अनुभव हैं । अतएव शरीरकी बात न सोचकर निरन्तर मनकी ओर देखना चाहिये ।

मनुष्य मनसे जहाँ है, वहीं वह है । आत्मासे तो नित्य एकता है ही । अतः तुम इतने उदास क्यों होते हो ? वास्तवमें समर्पित जीवनमें दर्द उसका दर्द नहीं, शरीर उसका शरीर नहीं, शरीरके रखने-छोड़नेकी बात सोचनेका उसे अधिकार नहीं । जिसको समर्पित है, वही दर्दका अनुभव करता है और वही उस दर्दको कायम रखने, बढ़ाने, घटाने या मिटानेके लिये जिम्मेवार है । इसी प्रकार शरीर भी उसीकी अपनी वस्तु है । वह रक्खे या न रक्खे, कब रक्खे, कहाँ रक्खे, क्यों रक्खे,—वही जाने । अपने तो, बस, इतना ही जानते हैं कि वह हमारा है, वही हमारा है ।

× × × × × ×

तुमको अपने दोष दिखायी देते हैं, सो तो बहुत ही अच्छे लक्षण हैं । कहीं गुणाभिमान हो जाता तो भगवान्‌को वह अभिमान भङ्ग करनेकी बात सोचनी पड़ती । यह दैन्य भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है । अपनेको सदा ही नीच मानना तथा अपने प्रति सदा ही भगवान्‌की स्वभावसुलभ प्रीति माननी चाहिये । वे हमारे गुणोंपर नहीं रीझते, अपने स्वभावसे ही रीझते हैं और वह रीझ-रीतिका स्वभाव वहीं प्रकट होता है, जहाँ एक निश्चय होता है—'मैं हूँ तो उन्हींकी अपनी वस्तु, वे चाहे गुणोंसे सजावें, चाहे दुर्गुणोंसे ।' बस, इस एक ही निश्चयपर रीझे रहना उनका स्वभाव है ।

× × × × × ×

वैसे मिलनकी अपेक्षा वियोगको प्रेमी संतोंने अधिक श्रेष्ठ माना है; क्योंकि मिलन तो एक ही समय एक ही स्थानमें होता है, पर वियोगमें तो सारा संसार ही प्रियतममय हो जाता है। अतएव प्रेमीको वियोगमें सभी जगह, सभी समय, सभी पदार्थोंमें प्रियतम प्रभुके दर्शन-स्पर्शका निरतिशय परम सुख अबाधरूपसे निरन्तर प्राप्त होता रहता है।

है अति सुखकर मिलन मधुर, जिसमें होता प्रियका संयोग।
मृदुल मधुर मुसकान मनोहर अनुपम दिव्य सुधारस-भोग॥
पर वह होता एक देशमें, एक कालमें, एक प्रकार।
अन्तर्दृष्टि न रहती, होती वृत्ति सर्वथा बाह्याकार॥
किंतु परम उत्कृष्ट नित्य सुख देता प्रियका विषम वियोग।
दिग्-दिगन्तमें मिलता उनका निशिदिन मधु-दर्शन संयोग॥
देश-कालका कभी न रहता, कुछ भी, कहीं तनिक व्यवधान।
प्रति पदार्थमें मिलते प्रियतम प्रतिपल करते सुखका दान॥
नित्य स्पर्शसे पुलकित रहता रोम-रोम, खिलते सब अङ्ग।
प्रिय-वियोग इससे अति उत्तम, खिलते जहाँ नित नये रङ्ग॥

× × × × × ×

वस्तुतः संसारके भोगोंमें जो सुखकी आस्था है, यही संसारके भोगोंमें निरन्तर लगाये रखती है। सुख कभी मिलता नहीं, भ्रम होता है। एक बार नशेमें जैसे आदमी अपनेको सुखी मानता है, वैसे ही भोग-मदमें पागल मनुष्य भी सुखकी मिथ्या प्रतीति करता है और परिणाममें उसे मिलती है घोर निराशा और महान् दुःखकी स्थिति।

जहाँसे दुःख ही पैदा होते हैं, वहाँ सुख कहाँसे आयेगा? भगवान्‌ने कहा है—"दुःखयोनय एव ते।" भोग सभी 'दुःख-योनि' हैं—दुःखोंकी उत्पत्तिके स्थान हैं। अतः मनुष्यको चाहिये—जीवनको भोग-सम्पर्कसे सर्वथा हटाकर, प्रतिक्षण, प्रत्येक चेष्टामें प्रभुके सम्पर्कमें रक्खें। इसीका नाम साधना है। गोपियोंका रोम-रोम तथा उनके मनका क्षुद्र-से-क्षुद्र स्थान सदा-सर्वदा श्रीकृष्णसे, केवल श्रीकृष्णसे ही भरा रहता था। 'तदर्पिताखिलाचारिता'—एकमात्र भगवान्‌का स्मरण ही उनका जीवन था। जगत् तथा जगत्‌के भोग उनके लिये थे ही नहीं।

× × × × × ×

भगवान् स्वीकार करनेमें यह देखते ही नहीं कि—'यह कौन है, कैसा है? नीच है या उच्च?' वे तो केवल वर्तमान चाहको देखते हैं और जिसे एक बार स्वीकार कर लेते हैं, उसको सदाके लिये अपना लेते हैं एवं स्वयं सदाके लिये उसके बन जाते हैं। अतएव यह कभी सोचना ही नहीं चाहिये कि 'मुझ एक नीचको भगवान् क्यों नहीं स्वीकार कर लेते।' इससे तो यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌का तुम्हें स्वीकार करना अभी बाकी है। तुम ऐसा मानकर क्यों दुखी होते हो? तुम्हारा स्वीकार तो उसी दिन हो चुका, जिस दिन तुम अपने मनसे उनके बन गये। तुम्हें इस प्रकारके संदेहकी चीज तनिक भी न मनमें रखनी चाहिये, न जबानपर लानी चाहिये और न ऐसी कल्पना ही करनी चाहिये।

उनके स्वीकार कर लेनेपर दोष हृदयमें रहते ही नहीं, कहीं किसीको दोष दीखते हैं तो वे दोष भी भगवान् ही बने हुए हैं और जो स्वीकृत हो चुका है, वह तो सर्वथा उनकी वस्तु हो गया है। वे चाहे उसे दोषोंसे पूर्ण रक्खें या गुणोंसे भरपूर कर दें। उसे दोष-गुणसे क्या लेना-देना है।

वह तो उनका हो चुका है, वे उसके हो चुके हैं। दोष-गुणका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। अतएव तुमको नित्य निश्चिन्त मनसे अपनेको उनकी वस्तु, एकमात्र उन्हींकी वस्तु मानना चाहिये।

× × × × × ×

संसार तो दुःखालय है। यहाँ सदा-सर्वदा दुःख-ही-दुःख है। इस दुःखका एकान्त नाश तभी हो सकता है, जब संसारमें भगवान् भरे दीखने लगें। प्रत्येक द्वन्द्वमें सर्वत्र, सदा अपने प्रभुके ही मङ्गल दर्शन हों। फिर वियोग, विनाश, मृत्युमें भी भगवान्‌के दर्शनसे प्रसन्नता ही होगी।

संसारका स्वरूप सामने है। इसमें निरन्तर मृत्युका प्रवाह वह रहा है। कुछ भी स्थिर तथा नित्य नहीं है। इन्द्रियोंके भोग तथा इन्द्रियाँ भी विनाशी हैं। भोगका मोह छूटना परमावश्यक है। निश्चय ही भोग दुःखयोनि हैं। इनमें कभी कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। मनुष्य भ्रमवश ही भोगोंमें सुखकी कल्पना करके नये-नये दुःखोंको तथा दुःखोंके कारणोंको उत्पन्न करता रहता है।

जीवनका यह भोगमुखी प्रवाह एकमात्र भगवान्‌की ओर जीवनकी गति होनेपर ही रुक सकता है। अतएव मन, वाणी, शरीर—सभीको निरन्तर भगवान्‌में लगाये रखनेकी ही तीव्रतम इच्छा, अनन्य आवश्यकता, सावधानीके साथ चेष्टा होनी चाहिये। भगवान्‌की अहैतुकी कृपाकी ओर देखकर सदा निश्चितरूपसे विश्वास करना चाहिये कि 'मेरी गति भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌की ओर हो गयी है। भगवान्‌ने मुझे स्वीकार कर लिया है। एकमात्र भगवान् ही मेरे अपने हैं।'

भगवान् जिसको एक बार अपना लेते हैं, उसका परम कल्याण तो हो ही चुका, चाहे वह आज सामने दिखायी न दे। एक दिन तुम्हारी कामना-वासनाको भी भगवान् नष्ट अवश्य कर देंगे। सब कुछ उनके ही समर्पण हो चुका है—तुमको भी यह सदा मानना चाहिये। समर्पणके पश्चात् तुम्हें हर परिस्थितिमें प्रसन्न रहना चाहिये। फिर तुम्हें दुखी होनेका अधिकार ही नहीं रहा।

× × × × × ×

जिसका जीवन-पुष्प प्रभुके चरणोंमें चढ़ चुका है, उसका अपना जीवन रहा ही नहीं, जो वह अपने लिये सोचे-विचारे। वह तो प्रभुका ही हो गया; प्रभुके हृदयका हार-सुमन बन गया; उनके मस्तककी मणि बन गया; भगवान्‌का शोभा-श्रृङ्गार बन गया। वह धन्य हो गया। ऐसे प्रभु-चरणार्पित पुष्पकी महत्ता कौन बता सकता है?

औरोंके पिया परदेस बसत हैं लिख-लिख भेजैं पाती।
मेरे पिया मेरे हियमें बसत हैं मिली रहूँ दिनराती॥ (मीराँ)

—इस प्रकार प्रभुकी मूरतिको दिन-रात (जागते-सोते) सब समय मनमें सुखपूर्वक सुविधापूर्वक बसाये रखना चाहिये। हमारा मन इतना उनके अनुकूल बन जाय कि उनको वहाँ बसे रहनेमें कभी किसी प्रकारकी अड़चन आये ही नहीं, वरं सुख-सुविधा बनी रहे। मनमें न गंदगी रहे, न कोई दूसरा वहाँ रहे, न भीड़-भाड़ रहे, न हल्ला-गुल्ला रहे। गंदगी और हल्ला-गुल्ला तो वे आप ही नहीं रहने देंगे। एक बार वे बस जायँ, फिर तो वे पूरा अधिकार जमा लेंगे। पर अपनी ओरसे ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि वे स्वतन्त्रताके साथ मनमें सदा सुख-सुविधापूर्वक पूरे अधिकारसे तथा पूरी मौजसे मनमाने रूपमें निःसंकोच रह सकें। खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-जागते, बैठते-लेटते—सभी समय उनके पास रहने, साथ रहनेका अनुभव होता रहे। बस, यही साधन हो और यही साध्य हो। हम उनके सिवा किसीको न जानें, कोई भी हमारे मनमें न आये और वे हमारे सिवा किसीको न जानें, कोई भी उनके मनमें न आये। वे तो ऐसा करनेको तैयार ही हैं, तैयारी तो हमहीको करनी है।

× × × × × ×

हम आशा रखते हैं, इसीसे दुखी होते हैं। पल-पलपर और पद-पदपर भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते रहना तथा मनमें अत्यन्त प्रसन्न रहना चाहिये। यह विश्वास करना चाहिये कि 'भगवान्‌की मुझपर अनन्त कृपा है और मेरी अपनी पात्रतासे कहीं विशेष स्वाभाविक दयालु प्रभुने मुझपर कृपा की है। उन्होंने ही कृपा करके अपनी स्मृति दी है; वे ही कृपा करके अपने तथा अपनी पवित्र दिव्य लीलाके दर्शन करायेंगे। वे मेरे लिये जब जो विधान करते हैं, वैसा ही, वही मङ्गलमय है।' इस प्रकार अपनेको सदा उनकी कृपापर छोड़कर उन्हींपर निर्भर करके उनके शरणापन्न हो रहना चाहिये। हम दीन और कर ही क्या सकते हैं? दीनवन्धुकी कृपा ही हमारा सारा बल और अवलम्बन है।

× × × × × ×

आराम तो शरीरकी आसक्ति अपने-आप करा देती है। मनुष्यको तो जहाँतक बने, उसमें शक्ति रहे, भगवान्‌की सेवाका कार्य निरन्तर करते रहना चाहिये। शरीरको घरवालोंकी राजीपर छोड़ देना चाहिये। मनको तो मनुष्य चाहे जहाँ रख सकता है। तुम मनमें चिन्ता मत किया करो। वे हमारे लिये जब, जो, जैसी व्यवस्था करें, उसीमें मङ्गल है। संसारकी तो सभी चीजें अनित्य और परिवर्तनशील हैं। प्रत्येक परिवर्तनमें भगवान्‌की लीलाका अनुभव करना चाहिये। संसारमें संयोग-वियोग होते ही रहते हैं। मनको जहाँतक बने प्रभुके चरणोंमें लगाये रखना चाहिये। भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपा निरन्तर हमपर बरस रही है। बस, निरन्तर सुखी रहा करो। चित्तमें प्रसन्नताका पोषण किया करो। उदासी, विषाद, चिन्ता, शोक—भगवद्विश्वासीके मनमें रहने ही नहीं चाहिये।

× × × × × ×

प्रभु हमारे मनके भीतरकी बातको, यथार्थ स्थितिको प्रत्यक्ष जानते हैं, देखते हैं। उनसे कुछ भी छिपा नहीं है। सब कुछ देख-जानकर वे हमारे प्रेमास्पद परम सुहृद् प्रभु हमारे लिये जो कुछ विधान करते हैं, वही हमारे लिये परम मङ्गलमय है और उसे सदा-सर्वदा परम प्रफुल्लित चित्तसे स्वीकार करना चाहिये। इतनेपर भी प्रभुके लिये विरह होना, प्राणोंका छटपटाना दोष नहीं है, अपितु परम वाञ्छनीय गुण है। प्रभु-विरह प्रभुकी नित्य स्मृति करानेवाला होनेके कारण अत्यन्त ही आदरकी वस्तु है। इसलिये कुछ प्रेमीजन तो मिलनकी अपेक्षा भी विरहको अधिक आदर देते हैं और उसके सदा बने रहनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं। कहीं-कहीं मिलन-विरह दोनोंका मिलन भी हो जाता है। प्रेमकी बड़ी अटपटी स्थिति है।

× × × × × ×

जहाँ अहैतुक सहज प्रभु-प्रेम होता है, वहाँ प्रभु किसी भी परिस्थितिमें रक्खें, उनका संयोग रहे या वियोग, किसी भी योनिमें, कहीं भी हम जायँ, प्रभुका मनसे वियोग कभी हो ही नहीं सकता। प्रेमकी धाराके रुकने तथा कम होनेकी तो कभी कोई कल्पना ही नहीं। जहाँ नीच स्वार्थ होता है और केवल निज-सुखकी इच्छा होती है, वहीं प्रेमके कम होनेकी कल्पना होती है। दिव्य अनन्य प्रेममें दूसरा कोई रहता ही नहीं। फिर दूसरेकी ओर ताकने या समय मिलनेका भी कोई प्रश्न ही नहीं है। इसीलिये भगवत्प्रेमी पुरुष नित्य-निरन्तर प्रभुके प्रेममें निमग्न हुए आनन्द-सुधा-रसका पान किया करते हैं; सदा मस्त रहते हैं।

× × × × × ×

मनको सदा-सर्वदा विषय-चिन्तनसे हटाकर भगवच्चिन्तनमें लगाये रखना चाहिये । विशुद्ध भगवच्चिन्तन होनेपर विषयोंका चिन्तन अपने-आप छूट जाता है। परंतु कहीं-कहीं भ्रमवश भगवच्चिन्तन-के नामपर विषय-चिन्तन होता रहता है। हमें पता भी नहीं चलता कि विषय-चिन्तन हो रहा है और ज्यों-ज्यों विषय-चिन्तन होता रहता है, त्यों-त्यों चित्त विषय-सागरमें डूबता जाता है और उसीमें मिथ्यानन्दका बोध करने लगता है। भागवतमें भगवान्‌ने कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते । मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥
(११ । १४ । २७)

'बार-बार विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें निमग्न हो जाता है और मेरा चिन्तन होनेसे मुझमें ही तन्मय हो जाता है।' अतएव सदा-सर्वदा सावधानीके साथ विषय-गन्धसे रहित विशुद्ध भगवच्चिन्तन करना चाहिये। जिनका चित्त विषयोंमें आविष्ट होता है, उनके लिये श्रीकृष्णमें चित्तका आवेश प्राप्त करना उतना ही अधिक दूर हो जाता है—

'विषयाविष्टचित्तानां कृष्णावेशः सुदूरतः ।'

भगवान्‌के चिन्तनमें एक मधुर आनन्दकी अनुभूति होनी चाहिये। फिर वह छूटता नहीं और दूसरे चिन्तनोंको नष्ट कर देता है ।

× × × × × ×

निरन्तर निर्मल प्रेमभावसे भगवान्‌का मधुर चिन्तन करते रहें । उनका—केवल उन्हींका चिन्तन हमारे जीवनका स्वभाव बन जाय, हमारे जीवनकी आत्मा बन जाय—इस बातका पूर्ण मनोरथ तथा पूर्ण प्रयत्न रखना चाहिये। जगत्‌के किसी भी द्वन्द्वका—मान-अपमान, हानि-लाभ, दुःख-सुख, संयोग-वियोगका हमारे मनपर कोई असर नहीं होना चाहिये। बस, हमारे हृदयमें, प्रत्येक स्तरमें, हर समय केवल हमारे परम प्रेमास्पद प्रभु ही लीला—मधुर लीला करते रहें, अपना मानकर निःसंकोच लीला करते रहें ।

× × × × × ×

भगवान्‌का यह स्वभाव है कि जो उनका हो जाता है, उसे सदाके लिये अपनाकर वे स्वयं उसके बन जाते हैं। भूलना, त्यागना, हृदयमें न बसना, न बसाना—यह सब तब रहता ही नहीं।

भगवान्‌ने दुर्वासासे कहा है—'ऐसे प्रेमी भक्त मेरे हृदय होते हैं, मैं उनका हृदय होता हूँ। वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते, मैं उनके सिवा और किसीको नहीं जानता।' जब वे स्वयं ही हृदय हो जाते हैं और भक्त प्रेमीको अपना हृदय बना लेते हैं, तब त्यागकी तो कल्पना ही नहीं। वे उस प्रेमीके पराधीन हो जाते हैं। उसके मनमें अपने मनका प्रवेश कराकर एकमन, एकप्राण हो जाते हैं। यही परम आदर्श है। भगवान् इसमें कोई विलक्षण बात नहीं करते। उनका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है। वे जिसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, वह चाहनेपर भी फिर उनसे अलग नहीं हो सकता। उसे तो वहाँ सदाके लिये बँधे रहना पड़ता है। यों प्रेमी और प्रेमास्पद भगवान् एक-दूसरेके द्वारा बाँधे जाते हैं और एक-दूसरेको बाँध लेते हैं। यह बन्धन बड़ा ही अनोखा—मधुर होता है। अतएव इससे मुक्ति न भगवान् चाहते हैं, न प्रेमी चाहता है। ('सत्सङ्ग-सुधा')

× × × × × ×

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पर-दुःखसे दुखी

कुछ मित्रोंने बम्बई शहरके समीप स्थित अमरनाथकी यात्रा करनेकी योजना बनायी। शहरके व्यस्त यान्त्रिक जीवनसे छुट्टी लेकर एक दिन सब लोग साथ चलकर गोष्ठीका आनन्द प्राप्त करें, इसके लिये कार्यक्रम बनाया जा रहा था। काम बाँटे जा रहे थे। यात्राके लिये उत्सुक लोगोंके नाम लिखे जा रहे थे। काफी संख्यामें नाम लिखे गये। 'किसीको आमन्त्रण देना रह तो नहीं गया है?'—एक भाईने प्रश्न किया।

'करुणाशंकरसे किसीने बात की है?'

'उनसे बातें करना कोई अर्थ नहीं रखता, वे तो अर्थदास हैं। प्रातः तड़के निकलकर काफी रात गयेतक पैसा कमानेके सिवा और किसी बातमें उनको रस नहीं मिलता।'—एक दूसरे भाईने उत्तर दिया। 'सच्चे अर्थमें कोई अर्थदास है तो करुणाशंकर'—तीसरेने आक्षेप किया और कहा—'यही इनके जीवनकी करुणता है। किसीने नाम रखनेमें खूब दीर्घ दृष्टिसे देखकर सही गुणवाचक नाम रक्खा है।'

'चाहे जो हो, परंतु हमारा फर्ज है कि उनसे पूछना तो चाहिये ही'—बातचीतके बीच मैं यह कह बैठा। परंतु यह तो 'गये नमाज पढ़ने और रोजा गले पड़ा' की कहावत हो गयी। एक भाईने निवेदन किया—'आपका उनके साथ अच्छा सम्बन्ध है, अतः आप ही पूछकर देख लें। मैं आपको शत-प्रतिशत विश्वास दिलाता हूँ कि वे नहीं जायँगे।'

'विचारकी दृष्टिसे भी अपनी मण्डलीके सदस्यकी हैसियतसे हमें उनको आमन्त्रण तो देना ही चाहिये। लाइये कार्यक्रमका एक कार्ड, मैं ही उनसे पूछ देखूँगा'—कहकर मैंने बीड़ा लिया। और करुणाशंकर भाईको कुछ जोश आये, इस ढंगसे अच्छी तरह मोयन देकर बातें कीं—'सारी जिंदगी घसीटते हुए गाड़ीके बैलके समान पैसा कमाना तो है ही, किंतु कभी तो समानभाववाले कुछ मित्रोंके साथ मिलकर इस प्रकार आनन्द उठाया जाय, तो जीवनमें जरा ताजगी रहे, एक दूसरेको नजदीक आनेका मौका मिले।'

'आपकी बात ठीक है। आप जा रहे हैं?'—उन्होंने पूछा। 'सपरिवार' मैंने कहा, 'साथ-साथ चलें तो जरा मजा आये और घरकी स्त्रियोंको तो बाहर निकलनेका अवसर ही कहाँ मिलता है? इनको भी इसी बहाने कुछ पैर सीधे करनेका मौका मिल जायगा।'

उन्होंने रसपूर्वक मेरी बात सुनी और पूछा—'प्रति मनुष्य कितना खर्च पड़ेगा?'

'आने-जानेका गाड़ीभाड़ा और नाश्ता पानी आदिके सब मिलाकर दस रुपये लेनेका निश्चय हुआ है।'—मैंने जवाब दिया और उनकी ओर आशाभरी दृष्टिसे देखा। क्षणभर मनमें सोचकर वे बोले—'तब तो दो आदमीके लिये बीस रुपये होते हैं, ठीक है न?'

बात बनती देखकर मैं उत्साहमें आ गया और बोल उठा—'पैसा आज ही नहीं देना है। वेतन मिलनेके दिन मैं आपकी ओर आकर ले जाऊँगा। इसमें कोई आपत्ति नहीं है'। वे स्वस्थ चित्तसे आगे कहने लगे—'परंतु एक बातमें मुझे आपसे सलाह लेनी है। देशमें मेरी एक काकी हैं। खूब वयोवृद्ध और असहाय हैं, आजकल उधर सख्त सर्दी पड़ रही है—ऐसा अखबारोंमें पढ़कर मैं सिहर उठा हूँ। उस काकी बेचारीको अङ्ग ढँकने भरके लिये कपड़े हैं या नहीं—इसकी मुझे चिन्ता हो रही है। वृद्धावस्थामें आँखोंसे कम दीखता है। तथापि समीपके जङ्गलमें जाकर कुछ लकड़ीके बोझे बाँधकर या कुछ सूखा गोबर ले आती हैं। यही उनका जलावन है और घरमें आटा हो तो रोटी सेंक-कर पेट भर लेती हैं। एक निराधार प्राणी हैं। उनकी हालत जाननेके बाद मेरी आँखोंके सामनेसे उनका चित्र कभी हटता नहीं है। मैं भूल नहीं सकता। मुझे मेरी माँ याद आती हैं। उन्होंने भी वैधव्यके दुःखके दिन इसी प्रकार बिताये थे और घरके कोनेमें दूसरोंकी दाल दलकर मुझे पढ़ाया-लिखाया, पेटपर पट्टी बाँधकर कमाने लायक बनाया। उनकी वृद्धावस्थामें मैं यथाशक्ति सेवा कर सका, इसका मुझे संतोष है।'

—'समझदार लड़केके समान आपने अपना कर्तव्य पालन किया।' 'इसमें मैंने कोई बड़ा काम नहीं किया। परंतु मुझे इन काकीकी असहाय अवस्था बहुत सताती है। मेरी माँके तो मैं एक लड़का था जो वृद्धावस्थामें उन्हें सेवा मिल सकी। परंतु इन काकीका तो कोई भी नहीं है।'

'आपकी सगी काकी हैं?'—मैंने पूछा।

'ना, जी—बहुत दूरकी। पर इसमें क्या होता है? रक्तका सम्बन्ध भूलकर मैं मानवताकी दृष्टिसे विचारता हूँ।'

उनकी बात निस्संदेह विचारने लायक तो थी ही, मैं निरुत्तर हो गया।

वह बातका सिलसिला जोड़ते हुए आगे बोले—'ये काकी बड़े स्वाभिमानवाले स्वभावकी हैं। किसीका हरामका नहीं खाना चाहतीं। अपना हाथ-पैर जबतक चलता है, तबतक मेहनत-मजदूरी करके भगवान् जो सूखा-रूखा रोटीका टुकड़ा देता है, उसीको संतोषसे खाकर दिन काटती हैं।'

'पुरानी पीढ़ीके मनुष्योंकी यह खासियत है।'

'हमें इनसे बहुत कुछ सीखना है, ऐसा मुझे लगता है। मैं बीस रुपये खर्च करके पर्यटनका आनन्द लेनेके बदले इसमें कुछ पैसे और जोड़कर काकीको इस कठिनाईके दिनोंमें थोड़ी राहत मिल सके, ऐसा कुछ करनेका विचार कर रहा हूँ, आपको कैसा जँचता है?'

जीवनमें आनन्द प्राप्त करनेका एक नया ही रास्ता मुझे मिला। दूसरोंके दुःखसे दुखी होनेमें, दूसरोंके दुःखको कम करनेके लिये सहायक बननेमें भी एक प्रकारका परमानन्द है। मैं इस कोटिमें नहीं पहुँच सका, इससे मेरे मनमें कुछ दुःख हुआ और मैंने उनको पर्यटनमें घसीट ले जानेका दुराग्रह छोड़ दिया। (अखण्ड आनन्द)—चीमनलाल सोमपुरा।

(२)

घृणा-द्वेषसे कैन्सर-जैसे रोगकी उत्पत्ति तथा गुणदर्शन और प्रेमके द्वारा रोगोंसे मुक्ति

[प्यारे वैरी ! मैं तुमसे प्यार करता हूँ]

ध्वजशिला मार्ग (Flagstone Path) के नुक्कड़पर शेरीडोन स्ट्रीटकी वह छोटी-सी सुन्दर उज्ज्वल कुटीर वृद्धा दादी हीथ (Heath) की आवासस्थली थी।

गत कुछ दशकोंसे कितने ही लोग दादीके दर्शनार्थ उस मार्गपर आया-जाया करते थे। जीवनभर संसारके महान् धर्मोंके अध्ययनमें रत उस ज्ञानपिपासिनीके समूचे व्यक्तित्वसे सहृदयता और मैत्रीका सुधा-निर्झर बहता रहता था। उसने अपने अंदर चुम्बक-जैसा सद्भाव संजो रक्खा था और परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, वह उत्साहवर्धक शब्द ही बोया करती थी और फिर उससे मिलनेके लिये आनेवाले सब लोगोंके प्रेमपूर्ण सौहार्दके रूपमें फसल भी काटती थी।

दादी अपने बरामदेमें खड़ी-खड़ी अपनी सहेली कोरा (Cora) को वेगसे अपनी ओर आती हुई देख रही थी। कोराकी अत्यन्त संदिग्ध मुस्कानको उसने भाँप लिया था।

दादीके स्वरमें चमक-सी आ गयी थी 'तुमसे मिलकर कितना अच्छा लग रहा है।' घरके अंदर प्रवेश करते ही आरामकुर्सीकी फैली हुई भुजाओंने कोराको बैठ जानेका साग्रह आमन्त्रण दिया और बैठते ही वह फफक पड़ी। उसकी आँखोंसे अश्रुओंकी झड़ी लग गयी।

'ओह, दादी! डाक्टर कहता है—सम्भवतया मुझे कैन्सर हो गया है।' उसके शब्द अस्त-व्यस्त-से थे। 'सोमवारको मुझे एक्सरेके लिये जाना है और उसके कथनानुसार उसके निदानसे विपरीत एक्सरेका परिणाम कहीं सौमेंसे केवल एक ही निकलनेकी सम्भावना हो सकती है।'

वह भयभीत दृष्टिसे दादीकी ओर देखने लगी, फिर भी दादी शान्त बनी रही और उससे सटकर पासमें बैठ गयी। 'सखी! मैं तो समझती थी कि तुम सत्यकी कक्षामें पढ़नेवाली एक छात्रा हो'—अब दादीकी समतल वाणी कुछ कठोर-सी होने लगी थी।

कोराने हिचकी लेते हुए कहा—'हाँ, मैं सदा ही प्रार्थनामन्दिर (गिरजाघर) तो जाती ही हूँ तथा अधिकांश समय मैं अपने विचारोंको भी ठीक-ठाक रखनेका प्रयत्न करती रहती हूँ और यह सभी कुछ मैं ईमानदारीसे करती हूँ।' हँसनेकी चेष्टा करते हुए उसने आगे कहा—'पर मेरा अनुमान है कि मेरे नन्हे-से चेहरेकी चमक न जाने कहाँ लुप्त हो गयी है।'

पर दादी यह समझती थी कि वह इस प्रकारकी आपात स्थितियोंमें केवल प्रार्थनामन्दिरमें जाकर बैठ जाना तथा अपने विचारोंको ठीक बनाये रखना मात्र ही पर्याप्त नहीं है। हमें अपने सोचनेकी क्रियामें प्रेमकी पुट देनी होगी और यदि अपने आपको फिरसे पूर्ण स्वस्थ देखना चाहते हैं तो उसकी मात्रा भी प्रचुर रखनी होगी।'

कोरा त्योरी चढ़ाकर प्रलाप-सा कर रही थी—'क्यों? यह तो मैं करती ही हूँ, मैं बहुत-से लोगोंसे प्रेम करती हूँ और आपको यह सब ज्ञात है।' दादीने उसे टोकते हुए याद दिलाया कि 'बहुत-से लोगोंसे प्रेम करनेका अर्थ, प्रत्येक व्यक्तिसे प्रेम करना तो नहीं है।' व्यथित कोराने रोषयुक्त निःश्वास लेते हुए कहा—'आप बोल क्या रही हैं? मैं तो आपको यह बतलानेके लिये आयी थी कि किस प्रकार मेरा

सारा संसार उजड़ रहा है, यहाँतक कि मेरी मृत्यु भी हो सकती है और आप उन लोगोंके विषयमें बेसिर-पैरकी बातें करने लगीं, जिन्हें मैं प्यार करती हूँ। संसारमें मेरा कोई शत्रु नहीं है।' अब उसकी मुखमुद्रा म्लान हो गयी थी।

मृदु स्वरसे उसे पुचकारते हुए दादी बोल रही थी— 'कोरा! यह भी तो हो सकता है कि तुम्हें एक व्यक्तिका विस्मरण हो गया हो, तुम्हारे पतिके उस भाईके विषयमें तुम्हारी क्या धारणा है?'

तत्काल बौखलाहटभरी फुफकार सुनायी दी—'ओह! सेठ (Seth) के विषयमें? मैं उसे भूल जाना चाहूँगी।' अब उसने एक अपराधीके समान बात करनी आरम्भ कर दी थी और उसका प्रतिवाद उसकी जिह्वाके अग्रभागपर समाप्त हो चुका था।

वृद्धा दादी बोल रही थी—'कोरा! मैं तुम्हें वर्षोंसे जानती हूँ' अब मेरे ऊपर एक अनुग्रह करो। मैं तुमसे यह चाहती हूँ कि जब-जब तुम्हें अपने स्वयंके सम्बन्धमें अथवा एक्सरे या डाक्टरकी भविष्यवाणीके सम्बन्धमें कोई चिन्ता सताने लगे, तभी तुम इन विचारोंको पूर्णतया अपने मस्तिष्कसे निकालकर बाहर कर दो और ठीकसे बैठकर उनके स्थानपर अपने पतिके इस भाईके गुणोंके विषयमें उन सुखद स्मृतियोंका चिन्तन करो, जिनका तुम स्मरण कर सको।'

'परंतु मैं······'

'कृपया! तुम मेरे पास परामर्शके लिये आयी थी और मेरा परामर्श यही है, मैं वस्तुतः तुम्हें सेठ (Seth) से प्रेम करनेके काममें लगाना चाहती हूँ। मैं यह जानती हूँ कि यह काम इतना सरल नहीं है, तो भी मैं तुम्हें सच्चे हृदयसे चेष्टा करते हुए देखना चाहती हूँ। यदि उसके विषयमें कोई एक भी अच्छी बात सोचनेमें तुम्हें घण्टाभर भी लग जाय तो भी तुम्हें उसके सद्गुणोंपर अपने ध्यानको एकाग्र करना है और प्यारी! तुम्हें यह करना ही होगा, जबतक तुम सही अर्थमें यह अनुभव न करने लग जाओ कि तुम उससे प्रेम करती हो।'

'इसे मैं नहीं कर सकती—और विशेषतया इस समय तो और भी नहीं, जब मैं इतनी अधिक उद्विग्न हूँ। आप जानती हैं कि मैं उसे अपने मस्तिष्कसे निकाल चुकी हूँ, उसके मेरे प्रति सभी कुछ कर डालनेके पश्चात् भी मैं चुप हूँ, परंतु उससे प्रेम कौन कर सकेगा—यह असम्भव है।'

दादीने अपना सिर हिला दिया—'जब कोई व्यक्ति हमारे प्रति अन्याय करता है, तब यही समझ लेना चाहिये कि ठीक यह वही वस्तु है, जो किसी उत्तम भाव-की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करनेके लिये आवश्यक थी। वास्तवमें जितने भी अप्रिय लगनेवाले व्यक्तियोंसे हम परिचित हैं, वे सभी हमारे पास हमें कुछ शिक्षा देनेके उपकरणके रूपमें ही भेजे गये हैं, वे प्रच्छन्नरूपमें आये हुए पूरे-पूरे अमूर्त वरदान हैं।'

कोराके मुखका तनाव बढ़ता ही चला जा रहा था— 'सेठ (Seth) ने तो मुझे लगभग दरिद्रताके धाममें ही ला पटका था, फिर भी मैंने उसे क्षमा कर दिया। जबतक लोग गड़े मुर्दे न उखाड़ने लगें, तबतक मैं अब उसके पीछे हाथ धोकर थोड़े ही पड़ी हूँ। इतना कुछ पर्याप्त नहीं है क्या?'

दादी बोल उठी—'नहीं। मैं तुम्हें अपने भूतकालको इस ढंगसे खोदनेकी बात नहीं कह रही थी। मैं तो केवल तुमसे यही चाहती हूँ कि तुम किसी ऐसे अन्य व्यक्तिके प्रति प्रेमका अनुभव करने लगो, जिसकी आत्मा ठीक उसी प्रकार भगवान्का अंश है जैसे तुम्हारी।' उसका विचारमग्न स्वर अब गहरा होता चला जा रहा था, मानो वह अपने अन्तस्तलसे उपर्युक्त शब्द खोज रही हो।

'यह एक महान् सत्य है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसे जो भुला दिया गया है। पर सत्य चाहे कोई उसे न माने, उपेक्षा करके उसका उपहास करे, परंतु सत्य तो अपने स्थानपर है ही कोरा! प्रचुर प्यार किसी भी व्याधिसे—रोगसे मुक्त कर सकता है, किसी भी व्याधिसे, फिर चाहे यह कुछ भी, कैसी भी क्यों न हो। (यह प्रेम तुम्हें मानस-चिन्ता और शारीरिक रोगसे मुक्त कर देगा।) क्या तुम मुझपर विश्वास नहीं करोगी? क्या तुम इस व्यक्तिपर अपना प्यार उड़ेलनेका प्रयत्न करके भी नहीं देखोगी?'

कोराने लंबी श्वास लेते हुए उत्तर दिया— 'अच्छा ठीक है। मैं समझती हूँ कि इससे मेरी कुछ हानि तो हो नहीं सकती। यह हो सकता है कि उसके द्वारा निर्मित जिस भयंकर गड़बड़ीका मुझे सामना

करना है, उसके स्थानपर मैं वस्तुतः स्वयं उसीके विषयमें सोचने लग जाऊँ, परंतु क्या करूँ, वह मुझे इतना पागल भी तो बना देता है।'

दादीकी फटकार सुनायी दी—'अरे, अरे, तुम तो अपने-आपको प्यारसे भरने जा रही थीं न ? याद रक्खो, बस प्रेम—प्रेम; और अब उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । इस पूरे सप्ताहान्ततक जब-जब तुम्हें चिन्तित रहनेका मोह उत्पन्न हो, तब-तब तुमसे मेरी यह चाह है कि तुम तत्काल उसे पलटकर अपने सम्पूर्ण मन-प्राणकी शक्तिको सेठ (Seth) से प्रेम करनेमें लगा दोगी । आगामी तीन दिनके लिये, बस, तुम्हें यही काम करना है—सेठ (Seth) से प्रेम करना।'

प्रेम, निःसंदेह ! यद्यपि कोराने वचन दे दिया था, तो भी उसका मन निश्चितरूपसे अपनी ही उधेड़बुनमें लगा हुआ था । यह बार-बार लपक-झपककर पुनः डाक्टरके कम्पित कर देनेवाले शब्दोंकी ओर चला जाता था। 'यदि एक्सरेका कहना यही रहा कि अब मेरे लिये और अवसर शेष नहीं बचा है तब क्या होगा ? यदि मुझे अस्पतालमें भर्ती होना पड़ा तो क्या होगा ? यदि यह हुआ तो क्या होगा और यदि वह हुआ तो क्या होगा ?……'

परंतु दादीने यह भी तो कहा था कि 'इस विषयमें तुम्हें मानसिक अटकाव (Brake) से काम लेना पड़ेगा।' पहले तो कुछ हताश होकर और फिर दृढ़तापूर्वक कोरा इन विचारोंके स्थानपर सेठ (Seth) में से कोई छोटी-से-छोटी अच्छाई ढूँढ़ निकालनेके काममें जुट गयी।

धीरे-धीरे वह अपने भूतकालकी सीढ़ीपरसे एक एक डग नीचे उतरने लगी और अपने स्मृति-पटलपर उन सुखद स्मृतियोंको लानेका प्रयास करने लगी—'कम-से-कम उसका स्वास्थ्य तो सदा ही बहुत अच्छा था, यद्यपि उससे स्वयं उसको छोड़कर उसके अतिरिक्त अन्य किसीको कोई लाभ नहीं था। तो भी…… कुछ भी हो, अपनी पत्नीके साथ वह सदा सद्व्यवहार करता था । यह भी कह सकते हैं कि अपने परिवारकी सँभाल तो वह करता ही था । उसने अपने दोनों लड़कों और एक लड़कीको उच्च विद्यालयमें पढ़नेके लिये भेजा और यह करनेके लिये अपना काम उसने एक दो आवश्यक वस्तुओंके बिना भी चला लिया और देखो, उसने एक अच्छा-सा, घर भी तो खरीद लिया था न ? और फिर वह एक काफी जिम्मेदारीके पदपर भी तो आसीन है, यद्यपि मैं शर्त लगाकर कह सकती हूँ कि जो भाड़ेके टट्टू उसने पाल रक्खे हैं, वे उसे बहुत अधिक चाहते तो नहीं, फिर भी……',

इस प्रकार सेठके गुणोंकी स्मृतिके विचारोंमें मग्न होकर वह प्रार्थना करने लगी—'हे भगवान्—मुझे बल दो कि मैं इस व्यक्तिके प्रति किसी प्रकार प्रेमका अनुभव कर सकूँ।'

ठीक इसी समय किसी-न-किसी प्रकार, हठात् तालेमें बंद करके रक्खी गयी आशङ्काओंकी—चिन्ताओंकी चोर-चाभी घूम जाती और वह सब भड़भड़ाकर उसके विचारोंमें पुनः उथल-पुथल मचा देती।

एक बार दादीने यह भी तो बतलाया था—'हमारे जीवनमें सबसे बढ़कर शरारती हमारा अपना ही मन हुआ करता है।' और कोरा भी उसके इस कथनसे पूर्णतया सहमत थी। वह बार-बार नये सिरेसे आरम्भ करके पुनः-पुनः सेठ (Seth) के प्रति अपनी भावनाओंके साथ संघर्ष करनेमें जुट गयी थी और रविवारके प्रातःकाल तक स्थिर बैठकर अपने हृदयसे उसके हृदयमें प्रेमकी लहरियाँ भेज सकनेमें सचमुच अपने-आपको समर्थ अनुभव करने लगी थी। उसे अब यह एक शुभ दृष्टिकोण प्रतीत होने लगा था; क्योंकि यही बात, उसे इस बातकी स्मृति दिलानेमें सहायक बन गयी थी कि 'उसके हृदयमें भी तो भगवान् हैं और मैं निश्चितरूपसे भगवान्से तो प्रेम कर ही सकती हूँ। क्या मैं ऐसा नहीं कर सकती ? इस बातकी क्या परवा है कि प्रभु मुझे कहाँ मिलते हैं ?' रविवारकी रात्रितक जब-जब वह अपने पतिके उस भाईके विषयमें सोचती थी, तभी कोई एक शान्तिपूर्ण ज्योति उसके अंदर तक पैठने लगती थी । अपने मनकी स्वतः सम्बन्धी आशङ्काओंके मार्गको पूर्णतः बंद कर देनेके मार्गमें अब भी संदेह और घबराहटके घिनौने रोड़े बाधक बननेकी चेष्टा कर रहे थे, परंतु अब उसने इन्हें बाहर निकाल फेंकनेकी व्यवस्था कर ली थी।

जैसे-जैसे वह उस प्रेमको सही अर्थोंमें अनुभव करनेकी चेष्टा कर रही थी, उसके साथ-ही-साथ मानो

उसे पुष्ट करनेके लिये वह पुनः-पुनः इस बातकी आवृत्ति करती जाती थी—'सेठ ! मैं तुमसे प्यार करती हूँ ।' इसीके साथ-साथ वह अपनी सम्पूर्ण सत्ताको क्षमाशील तथा लेखा-जोखा न करनेवाले भगवान्‌की उपस्थितिसे परिपूर्ण करनेका प्रयास भी कर रही थी ।

सोमवारको जब वह सोकर उठी तो वर्षाके लक्षण दिखायी दे रहे थे, जब वह सावधानीपूर्वक स्नान करके कपड़े पहनने लगी तो छतपर मूसलाधार वृष्टि होने लगी । वह अपने मनको अपने आपसे अलग रखनेकी चेष्टा करते हुए लगभग सहज स्वाभाविक ढंगसे सेठ (Seth) की ओर यह प्रेमके विचार प्रेषित करने लग गयी कि 'सेठ, तुम भी तो उसी प्रभुके शिशु हो' और तभी उसने एकाएक अपने अंदर सिहरन उत्पन्न करती हुई एक ऐसी सहृदयताको विस्तीर्ण होते हुए अनुभव किया, जिसकी सेठके प्रति अपनी भावनाओंके प्रकाशमें स्वप्नमें भी कल्पना कर सकना असम्भव था, जहाँतक उसे क्षमा कर देनेका तथा उससे प्रेम करनेका प्रश्न था, वहाँ कम-से-कम उसकी विजय हो चुकी थी ।

× × ×

सोमवारके दोपहरतक वर्षा थम चुकी थी, उस समय सूर्यके प्रकाशसे चमकता हुआ आकाश कोराका स्वागत कर रहा था और लगभग दौड़ती हुई वह दादीके बरामदेकी ओर बढ़ी चली जा रही थी । दरवाजेपर ही दादीकी उससे भेंट हो गयी, जिसे उसने तुरंत प्रसन्नतासे अपनी भुजाओंमें कस लिया और चिल्ला पड़ी—'एक्सरे हो गया । एक्सरेके सभी परीक्षणोंमें रोगका कोई चिह्न नहीं है । डाक्टर इसपर विश्वास ही नहीं कर पा रहा था । वह कहता है कि न जाने मेरा सारा रोग ही कहीं अदृश्य हो गया है ।'

दादीकी मुखाकृतिपर मुस्कान खिल उठी । उसने विनीतस्वरमें कहा कि 'प्रेम भगवान्‌की आकर्षण करनेवाली शक्ति है,' यह स्वास्थ्यको उसी प्रकार आकृष्ट करती है, जैसे चुम्बक लोहेको । तुमने प्रेम प्रकट करके भगवान्‌को प्रकट कर दिया और उनके समक्ष किसी भी विपरीत वस्तुको विलीन हो जाना पड़ता है ।

'प्रिय सखी ! प्रेमके सामने रोग ठहर नहीं सकता, यद्यपि इस बार तुम्हारे बाहरी जगत्‌मेंसे तुम्हारे रोगको दूर करना पड़ा है ।'

'तुम्हारा अभिप्राय सेठसे है ?'

दादीने स्वीकृतिसूचक सिर हिला दिया । 'यही कारण है कि प्रभुने हमें अपने वैरियोंसे भी प्रेम करनेको कहा है । वे यह जानते थे और समझते हैं कि यही वस्तु सर्वाधिक निरापद है । प्रेम तथा घृणाको किसी व्यक्तिके पास पहुँचनेके पूर्व हमारे अंदरसे होकर गुजरना पड़ता है । उन्होंने हमें चेतावनी दी; क्योंकि वे जानते थे कि घृणा मनुष्यको (विविध भाँतिसे आधि-व्याधियोंसे ग्रस्त करके) बरबाद कर देती है और उसके विपरीत प्रेम तत्काल समस्त रोगोंसे मुक्त कर देता है । इस बातको तुमने स्वयं अपने लिये खोज निकाला, तुमने इस नियमको सत्य सिद्ध कर दिया जो कभी विफल नहीं होता ।

'परंतु यह सब करनेमें मुझे अत्यन्त कठिनाईका सामना भी करना पड़ा पर सेठ, सेठ—इस बार तुमने मुझको जीवनदान दे दिया ।'

दादीकी आँखें चमक रही थीं—'प्रेमका मार्ग स्वास्थ्यका मार्ग है और इसपर हमें अपने तथाकथित शत्रुओंके साथ अपनी मंजिल तय करनी होगी । वह प्रेम हमपर आघात करके हमें रुग्ण बना सकनेवाली प्रत्येक वस्तुको नष्ट कर देता है । वस्तुतः प्रेम हमारे शरीरके ढाँचेके अंदर ही निर्मित वह मानस रोग-चिकित्सक है, जिससे हम अपने हृदयके अंदर ही आवश्यकता पड़नेपर सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं और जो हमारी सभी समस्याओंमें प्रसन्नतापूर्वक हमारी सहायता करता है ।

तुम्हारी अपनी भगवत्ता संसारमें किसी भी दूसरे व्यक्तिकी अपेक्षा तुममें ही अधिक रुचि रखती है । जितना निकट ठीक इस समय तुम इन प्रभुके हो और जितना अधिक वे इस क्षण तुमसे प्यार करते हैं, वैसा और कभी भी सम्भव नहीं । देखो—भगवान् ही प्रेम हैं और प्रेम ही भगवान् हैं । इसलिये प्रेम किसी भी व्याधिसे सदा तुम्हें मुक्त कर देता है ।*

('वीकली युनिटि' मार्च)

* हमारे मनमें जब किसीके प्रति घृणा, द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं, तब हमें उस व्यक्तिके गुण दीखने बंद हो जाते हैं और दोष-

(३)

न भूलने योग्य एक दृश्य

२६वीं जनवरीको अजमेरमें बादशाहखाँ आये । उनका प्रवचन सुननेके बाद हम चार-पाँच बहनें बसकी राह देखती 'गरीबी हटाओ और साम्यवाद लाओ'—इस विषयपर चर्चा कर रही थीं । हमारी चर्चामें एक सामाजिक कार्यकर्त्ता भी आ जुटे । एकाएक करुण चीख सुन पड़ी । हमने चौंककर पीछेकी ओर देखा तो हमारे आश्चर्यके साथ एक तगरा उठाकर जाती हुई बुढ़िया अशक्त होकर चक्कर खाकर जमीनपर गिर पड़ी थी । उसके पैरसे खून बह रहा था । तगरेमें मोदीकी दूकानका सामान था; थोड़ा सामान जमीनपर बिखर गया । सामानके साथवाले भाई-ने उस वृद्धाको बैठाया और जेबमेंसे रूमाल निकालकर उससे उसके पैरको बाँधते हुए कहा—'माँजी ! मैंने आपसे पहले ही कहा था कि इतना अधिक सामान उठाकर आपसे नहीं चला जा सकेगा ।' खैर, इतना कहकर उस भाईने दूसरा मजदूर किया और वह आगे चल दिया । कुछ सोचकर वृद्धाने उस भाईको बुलाया ।

'भैया ! मजूरीका पैसा…', वृद्धा अधिक न बोल सकी । चार पैवंदकी फटी मैली साड़ीका छोर खोलने लगी । हममें एक बहन बोल उठीं—

'देखा न ! गरीबके ऊपर दया करनेका यह फल ! उस भाई बेचारेने अपना नया रूमाल इसके पैरपर बाँध दिया । बिखरे हुए मालका पैसा नहीं लिया । फिर भी यह मजूरीके पैसे माँग रही है—शर्म आनी चाहिये ।'

वह भाई पीछे लौटकर बोला—'माँजी ! ये मजूरीके पैसे तो आपके हो चुके, मुझे ये वापस नहीं चाहिये ।' साड़ी-की छोरसे चार आने पैसे खोलकर माँजी उस भाईको वापस लौटा रही थी ।

'ना, भैया ! मुझसे बिना हकका पैसा नहीं लिया जायगा । तुमने पहले ही मुझे मजदूरी दे दी थी, इसका यह अर्थ नहीं है कि वे पैसे मैं ले लूँ और दोषकी भागी बनूँ । मैंने दस डग भी तो तुम्हारी मजूरी नहीं की है ।' काँपते हुए हाथोंसे माँजीने चार आने उस भाईको जबरदस्ती थमा दिये ।

'बहिन, इतनेमें कहीं पानी मिलेगा ? मैं दो दिनसे भूखी हूँ ।' मैंने उसे पानी पिलाया ।

'बहिन ! पहले मैं चोरी करती थी, भीख माँगती थी, खाना तो मिलता था, इज्जत भी थी । इस प्रकारसे चोरी…', वह अधिक न बोल सकी, रो पड़ी । उसका संस्कारी आत्मा बोल उठा—

'बहिन ! मैंने कैसा खराब विचार किया । भगवान्‌ने मेरी जीभ क्यों न काट ली ?'

मुझको उसके साथ बातें करते देखकर वे सामाजिक कार्यकर्त्ता बोल उठे—'आप भी कैसी बिना स्टेटसकी गँवार स्त्रीके साथ बातें करती हैं । आज छब्बीस जनवरी है और अभी बहुतसे कार्यक्रममें उपस्थित होना है !'

मैं चुप रही । मैंने वृद्धाके सामने देखा तो 'हाय राम' कहकर वह जमीनपर बैठ गयी । तगरेमेंसे गिरा हुआ आटा एक कुत्ता चाट रहा था, बिना कुछ विचार किये उस कुत्तेके साथ वह वृद्धा भी आटा मुट्ठीमें भरकर खाने लगी !

'विश्व एक पक्षीका घोंसला है । एक ही पानीके किनारे बकरी और भेड़िया पानी पीते थे ।'—ऐसी उपनि-षद्‌की भव्य वाणीवाली भारतभूमिकी छब्बीसवीं जनवरीका यह एक प्रातःकाल था । (अखण्ड आनन्द)

—गुणवंती त्रिवेदी

दृष्टि बढ़ने लगती है, जो हमारे मनमें एक जलन पैदा करनेके साथ ही ऐसी मलिनता—गंदगी ला देती है, जिससे अज्ञात रूपमें ही हमारे शरीरके भीतरी अङ्ग दूषित होकर रोगोंके घर बनने लगते हैं । उनमें कैन्सर-जैसे भयानक घाव पैदा होकर पनप उठते हैं । पर यदि घृणा और द्वेषके स्थानपर हम उसमें भगवान्‌को देखकर उससे प्रेम करें, अपने हृदयके शुद्ध प्रेमकी विचारसुधाको उसके समीप भेजने लगें, तो उसके मनमें भी प्रेम उत्पन्न होगा, हम उसके हृदयको दोषमुक्त करनेमें कारण बनकर उसकी सेवा करेंगे और फिर हमें उसके गुण दिखायी देने लगेंगे और उसको हमारे । इससे परस्पर और भी प्रेमकी वृद्धि होगी । इस प्रकार मानसिक स्वस्थतासे हमारे कैन्सर-जैसे भयानक शारीरिक रोग भी सहज ही मिट जायँगे । [illegible] बढ़ना इसीका प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

(४)

श्रद्धालु एवं निष्ठावान् अंग्रेज अफ़सरकी अपूर्व शिवभक्ति एवं नीति-धर्मनिष्ठा

लंदनकी किसी सड़कके किनारे पड़े हुए एक शिवलिङ्गको देखकर एक अंग्रेज पथिक ठिठककर खड़ा हो जाता है। वह उसे उठाकर अपने दफ्तर ले जाता है, वहाँ उसे उसी तरह आदरपूर्वक रखता है, जैसे किसी निष्ठावान् हिंदूके घर शिवलिङ्ग रक्खा जाता है। उसके दस सालके प्रयत्नके बाद वह शिवलिङ्ग दक्षिण भारत लौटता है और विधिवत् एक प्रसिद्ध तीर्थस्थानके मन्दिरमें प्रतिष्ठित किया जाता है।

यह न कोरी किंवदन्ती है, न कहानीकारकी कल्पना, बल्कि सच्ची ऐतिहासिक घटना है।

बात सन् १८९६ की है। बम्बई हाईकोर्टके एक वकील श्री जी० एन० नाडकर्णी यूरोपकी यात्रा करते हुए लंदन पहुँचे। वहाँ उस समय उनके पुराने मित्र और सेवानिवृत्त आई० सी० एस अफसर सर जार्ज बर्डवुड, भारतमन्त्रीके कार्यालयमें काम करते थे। वे उनसे मिलने गये।

सर जार्ज बर्डवुडके दफ्तरमें पैर रखते ही नाडकर्णीजीकी दृष्टि महोगनीकी एक सुन्दर मेजपर पड़ी, जिसपर रुद्राक्षमाला-मण्डित शिवलिङ्ग विराजित था। ऊपर लटकते हुए फानूससे शिवलिङ्गपर प्रकाश पड़ रहा था और उसका शिल्प-सौन्दर्य उभरकर प्रकट हो रहा था। नाडकर्णी स्तब्ध होकर कई मिनटतक उसे निहारते रहे। वे सर जार्जसे इस शिवलिङ्गके बारेमें पूछ-ताछ किये बिना न रह सके और सर जार्ज तो जैसे इसीकी प्रतीक्षामें ही बैठे थे। उन्होंने शिवलिङ्गकी कहानी कह सुनायी।

सन् १८८५ में फिलाडेल्फियामें एक अंताराष्ट्रिय मेला लगा था। उसमें प्रदर्शित करनेके लिये यह शिवलिङ्ग भारतसे भेजा गया था। इसी उद्देश्यसे इसे कलकत्ताके किसी शिल्पीसे तैयार करवाया गया था। किंतु दुर्भाग्यवश विश्वमेलेके अधिकारियोंने इसे वहाँ प्रदर्शित नहीं होने दिया।

अगले साल उसी तरहका एक मेला लंदनमें हुआ। शिवलिङ्ग वहाँ पहुँचा। लेकिन वहाँ भी इसे प्रदर्शित नहीं किया गया। यही नहीं, इसे अश्लील कहकर फेंक दिया गया। सड़कके किनारे यह पड़ा रहा। ऐसा लगता था कि सड़क कूटनेवाले इसे] तोड़-फोड़कर किसी सड़कमें बजरीके रूपमें कूट देंगे।

पर सौभाग्यसे सर जार्ज बर्डवुडकी नजर उसपर पड़ गयी और वे उसे अपने दफ्तरमें ले आये। काफी दौड़-धूपके बाद एक रुद्राक्षकी माला कहींसे प्राप्त करके उसपर चढ़ाकर उसे मेजपर आदरपूर्वक आसीन कर दिया।

यह सब सुनाकर सर जार्जने अपने भारतीय मित्रसे बड़े विनयके साथ कहा—"मैं पैंसठ सालका हो चला हूँ। शीघ्र ही भारतमन्त्रीके कार्यालयसे निवृत्त हो जाऊँगा। मैं यह सोचकर चिन्तित हूँ कि इस पवित्र वस्तुका फिर क्या होगा। मैंने बहुत कोशिश की कि 'ऑक्सफर्ड म्यूजियम'में इसे रखवा दूँ, लेकिन वे इसे लेनेके लिये कतई तैयार नहीं हैं। अब तो आप मिल गये हैं। आप मेरे पुराने मित्र हैं और निष्ठावान् हिंदू हैं। आप मुझे इस चिन्तासे मुक्त कर सकते हैं। मैं इसे यहाँसे जहाजद्वारा भारत भिजवानेका सारा खर्च उठानेको तैयार हूँ। आपसे इतनी ही प्रार्थना है कि अपने देशमें इसे कहीं विधिवत् प्रतिष्ठित करा दीजिये, ताकि इसकी समुचित पूजा-अर्चना होती रहे। पिछले दस वर्षोंसे मेरी यह तीव्र लालसा रही है कि इसे विधिवत् प्रतिष्ठा मिले।"

श्रीनाडकर्णी गौड़ सारस्वत ब्राह्मण थे। जब वे भारत लौटे तो उन्होंने अपने समाजके धर्मगुरु श्रीस्वामी आत्मानन्दजी सरस्वतीसे इस विषयकी चर्चा की। स्वामीजीने यह मामला एक कश्मीरी ब्राह्मण पं० घनश्याम शर्मा शास्त्रीको, जो उनके धर्मशास्त्र-विषयक सलाहकार थे, विचारार्थ सौंपा। शास्त्रीजीने सम्मति दी कि 'विदेशसे शिवलिङ्गको लाकर भारतमें विधिवत् प्रतिष्ठित करनेमें कोई शास्त्रीय बाधा नहीं है।' इसपर सर जार्जको सूचना भेजी गयी कि 'भेंटके रूपमें उनसे उस शिवलिङ्गको स्वीकार करनेमें उन्हें प्रसन्नता होगी।'

अपनी दीर्घकालीन कामनाकी पूर्तिका अवसर आया देखकर सर जार्जके आनन्दकी सीमा न रही। स्वामीजीको धन्यवाद देते हुए उन्होंने यह विनम्र सुझाव रक्खा कि सात समुद्रोंकी यात्रा करके भारत लौटनेवाले इस शिवलिङ्गको 'चक्रवर्ती शिवलिङ्ग' का नाम दिया जाय।

यथासमय शिवलिङ्ग भारत आ पहुँचा और श्रीस्वामी आत्मानन्द सरस्वतीजीने अपने हाथोंसे कारवारसे ३५ मील दूर गोकर्णके गौड़ सारस्वत मठमें विधिवत् उसकी प्राणप्रतिष्ठा की। तबसे हजारों भक्त प्रतिवर्ष उसका दर्शन और पूजन करते हैं और आज भी वह उसी नामसे जाना जाता है जो

उदारमना अंग्रेज सर जार्ज वर्डबुडने प्रेमपूर्वक सुझाया था—'चक्रवर्ती शिवलिंग।' 'नवनीत'

—वल्लभदास बिन्नानी, 'व्रजेश' साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

(५)

कुछ अनुभूत प्रयोग

(१) दाढ़ीकी फुंसियाँ

नाईकी असावधानी या अन्य किसी भी कारणसे दाढ़ीमें सफेद फुंसियाँ हो जाती हैं। दवासे एक ठीक होती है तो दूसरी निकल आती है। दाढ़ी सड़नेकी नौबत आ जाती है, इसके लिये नीचे लिखा सरल प्रयोग बहुत लाभदायक है।

प्रयोग—किसी ताँबेके चौड़े किनारदार बर्तनमें मलाईदार दही डाल दे और उसको ताँबेकी ही किसी दूसरी चीजसे या ताँबेके पुराने पाँच-सात पैसोंसे खूब रगड़े। दहीका रंग जितना हरा होगा, उतना ही जल्दी लाभ होगा। सुबह-शाम दोनों समय फुंसियोंको गरम जलसे धोकर तथा कपड़ेसे सुखाकर उनपर उस दहीका लेप कर ले। दही बर्तनमें उतना ही डालकर रगड़ा जाना चाहिये जिसमेंसे आधा लेपमें लग जाय और ठीक आधा बच रहे। दुबारा उसी बचे हुए आधेमें आधा नया मलाईवाला दही डालकर वैसे ही रगड़ ले। नयी बीमारी होगी तो तीन दिनोंमें, नहीं तो, एक सप्ताहमें मिट जायगी। यह प्रयोग मूँछके या सिरके केश गिरते हों तो उसपर भी किया जा सकता है।

(२) फोड़ा-फुंसी

कहीं कैसा भी फोड़ा-फुंसी हो, इस प्रयोगसे या तो वह बैठ जायगा या पककर फूट जायगा और घाव जल्दी भरकर साफ हो जायगा।

प्रयोग—पाँच तोले करंजके तेलमें १ मासा डलीका असली कपूर पीसकर मिला दे और हिलाकर शीशीमें भरकर रख दे। फोड़े-फुंसीपर अंगुलीसे लगा दे और रूईपर मामूली तेल लगाकर पट्टी बाँध दे। सुबह-शाम दोनों समय गरम जलसे धोना चाहिये।

(३) खूनी बवासीर

प्रयोग—रीठेकी गुठली फोड़नेपर उसमेंसे पीले रंगकी चीज निकलेगी। उसको बारीक पीसकर देशी या विलायती शराबमें मिलाकर शीशीमें रख दे। शौचके बाद शुद्धि करके अंगुलीसे थोड़ी-सी दवा लगा दे। रातको सोते समय भी लगावे।

(४) दमा (श्वास)

प्रयोग-(क) खानेका नमक सुनारकी कुठालीमें पकाकर रख लें और उसमेंसे मकईके दानेके बराबर बिना कत्थे-चूनेके पानमें डालकर प्रतिदिन दिनमें तीन बार खा लें। रातको सोते समय अवश्य खायँ।

(ख) रातको सोते समय आधी सुपारीके बराबर पीसा हुआ काला नमक जलके साथ खानेसे भी दमाके रोगमें लाभ होता है।

(५) हिचकी

प्रयोग—हिचकी शुरू होते ही बिना बोले सात घूँट ठंडा जल पी लेना चाहिये। बहुत जोर हिचकी हो तो सूखे नीबूको जलाकर उसे शहदके साथ धीरे-धीरे चाटना चाहिये।

(६) कानका दर्द

प्रयोग—गुलाबका असली इत्र दो बूँद कानमें डालकर हिला देना चाहिये।

(७) कानमें फुंसी

प्रयोग—बबूलके पके हुए फूल दो-चार लाकर उन्हें कानके अंदर गिराना चाहिये और उनका बुरादा फुंसीपर लगा देना चाहिये।

—चिरंजीलाल जाजोदिया, जाजोदिया-भवन, २३६ एम. टी. क्लाथ मार्केट, इन्दौर २

(६)

दो अनुभूत प्रयोग

(१) मोतियाबिन्द—छोटी मक्खीका असली शहद और हरे आँवलेका रस बराबर-बराबर मिलाकर एक साफ शीशीमें रख लें और सोते समय लगा लें। केवल शहद लगाना भी लाभप्रद है।

(२) मधुमेह (डाइबिटीज)—बबूल (कीकर) की दो-ढाई तोला छाल डेढ़ पाव जलमें पकाकर जब एक पाव जल रह जाय तो पी लें। यह प्रतिदिन पीना चाहिये। इसके प्रयोगसे बदनके फोड़े, घाव आदि भी ठीक हो जाते हैं। छालको लाकर छायामें सुखाकर रखना चाहिये।

—डा० त्रिभुवननाथ शर्मा
१४ जी, टी. रोड. गाजियाबाद. उ० प्र०

संक्षिप्त महाभारत

[दो खण्डोंमें—केवल हिंदी-अनुवाद]

आकार २०×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या १६९४, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य दोनों खण्डोंका एक साथ बीस (२०.००) रुपये, कमीशन १.२५, बाकी १८.७५, डाकखर्च ४.००, कुल २२.७५।

महाभारतका भारतीय वाङ्मयमें बहुत ऊँचा तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे पञ्चम वेद भी कहते हैं। इसका विद्वानोंमें वेदोंका-सा आदर है। इसमें बड़ी सुन्दरतासे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों ही पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है। धर्मके तो प्रायः सभी अङ्गोंका इसमें वर्णन है। वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, दानधर्म, श्राद्धधर्म, स्त्रीधर्म, मोक्षधर्म आदि विविध धर्मोंका शान्तिपर्व एवं अनुशासनपर्वमें भीष्मजीके द्वारा बहुत विशद वर्णन किया गया है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम ग्रन्थ, जिसे सारा जगत् आदरकी दृष्टिसे देखता है और जिसे हम विश्वसाहित्यका सर्वोत्तम ग्रन्थ कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी, इसी महाभारतमें है। इस प्रकार जिस ओरसे भी हम महाभारतपर दृष्टिपात करते हैं, उसे हम परमोपयोगी ही पाते हैं।

इसी भावनासे प्रेरित होकर आजसे २७ वर्ष पूर्व 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें तथा आगेके ग्यारह अङ्कोंमें महाभारतका संक्षिप्त अनुवाद छापा गया था। यद्यपि उसके बाद सम्पूर्ण महाभारत मूल तथा हिंदी-अनुवादसहित कई खण्डोंमें निकाला गया, जिसका जनताने भी अत्यन्त समादर किया तथापि आकार और मूल्यके बृहत् होनेके कारण वह सर्वसाधारणके लिये सुलभ न था। इसलिये इस संक्षिप्त महाभारतके लिये जनताकी माँग बनी रही। भगवत्कृपासे इसे दो खण्डोंमें प्रकाशित किया गया है। इसके प्रथम खण्डमें आदिपर्वसे लेकर द्रोणपर्वतक और द्वितीय खण्डमें कर्णपर्वसे लेकर स्वर्गारोहण-पर्वतक है। दोनों खण्ड एक साथ तथा पृथक्-पृथक् भी प्राप्त हो सकते हैं। आशा है, जनता इसे पूर्ववत् अपनाकर लाभ उठायेगी।

दानवोंमें भी मानवता

[पढ़ो, समझो और करो, भाग १२]

आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या १३४, मूल्य ५० पैसे, डाकखर्च १.१० पैसे, दोनों मिलाकर १.६० पैसे।

'पढ़ो, समझो और करो' के विविध नामोंसे ११ भाग पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इसमें पवित्र उच्च सदाचारमय चरित्रके निर्माण, संरक्षण तथा संवर्धनकी शिक्षा देनेवाली सच्ची घटनाएँ छपती हैं, जिनसे बहुत लोकोपकार हो रहा है। उसीका यह 'दानवोंमें भी मानवता' नामक १२वाँ भाग है। इस भागमें भी वैसी ही घटनाएँ दी गयी हैं। पाठकोंको इससे लाभ उठाना चाहिये।

व्यवस्थापक—

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

प्रतिज्ञा कीजिये और घोर हिंसाके पापसे बचिये

१. 'रेशमी कपड़ा' नहीं पहनेंगे; क्योंकि हजारों-लाखों जीवित कीड़ोंको उबालकर रेशम निकाला जाता है। २. 'चमड़ेका जूता' नहीं पहनेंगे और 'चमड़ेकी किसी चीजको व्यवहारमें नहीं लायेंगे; क्योंकि चमड़ेके लिये लाखों गौमाता मारी जाती हैं। ३. 'साबुन' नहीं लगायेंगे; क्योंकि अधिकांश साबुनमें गाय और सूअरकी चर्बी लगती है, यह बात लोकसभामें भी मानी जा चुकी है। ४. 'इन्सुलिनका इन्जेक्शन' नहीं लगायेंगे; क्योंकि वह गौ आदि पशुओंके रक्तसे बनता है। ५. 'लीवर एक्सट्रेक्ट' का व्यवहार नहीं करेंगे; क्योंकि यह मछलियों और बकरियोंको मारकर उनके लीवरके छोटे-छोटे टुकड़ोंको कूटकर बनाया जाता है। ६. 'कोड लीवर आयल'का व्यवहार नहीं करेंगे; क्योंकि यह मछलीको मारकर उनसे बनाया जाता है। ७. 'पेन्टी टिटैनिक' सिरपका व्यवहार नहीं करेंगे; क्योंकि इस सिरपमें बंदरके गुर्दे काममें लाये जाते हैं। ८. और भी जिन-जिन ओषधियोंमें जीवोंके अङ्ग-उपाङ्ग, रक्त-मांस आदि लगते हैं, पता लगनेपर उन ओषधियोंको काममें नहीं लायेंगे। ९. 'कैपसुल' काममें नहीं लायेंगे; क्योंकि कैपसुलके ऊपर चढ़ाया हुआ आवरण जैलेटीन हड्डीसे बना हुआ होता है। १०. केसरका व्यवहार नहीं करेंगे; क्योंकि कई कारखानोंमें नकली पत्तियोंको खूनसे सींचकर उनसे केसर बनाया जाता है। ११. जिन कपड़ोंमें चर्बीकी माँड लगती है, मालूम होनेपर वे कपड़े भी काममें नहीं लायेंगे।

याद रखना चाहिये कि मनुष्य दूसरोंको बचानेवाला प्राणी है, उनको मारनेवाला प्राणी नहीं। जो यहाँ जीवोंको स्वयं मारता है, दूसरोंसे मरवाता है और मारनेका आयोजन करता है, वह मानव नहीं, जीव-हत्यारा असुर है। उसकी यहाँ बुद्धि बिगड़ती है, जीवनमें तमोगुण छा जाता है, मरनेके बाद बुरी-बुरी आसुरी योनियोंकी प्राप्ति होती है और नरकोंमें घोर यन्त्रणा भोगनी पड़ती है।

राजस्थानमें अकालपीड़ित गौओंकी सेवा

'कल्याण'में सूचना निकल चुकी है कि राजस्थान बीकानेरमें अकालपीड़ित गायोंकी रक्षा और सेवाका कार्य 'गीताप्रेस-सेवादल'की ओरसे चालू है। इस समय ५,५०० से ऊपर गायें हैं और वर्षा न होनेके कारण गायोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। इस कार्यमें राजस्थान सरकार पर्याप्त सहायता दे रही है, इसके लिये हम उसके कृतज्ञ हैं। जो सज्जन स्वेच्छासे उदारतापूर्वक इस कार्यमें सहयोग देना चाहें वे 'गीताप्रेस, गोरखपुर'के नामके ड्राफ्ट या चेक अथवा मनीआर्डर या बीमा 'गीताप्रेस-सेवादल' द्वारा 'गीताप्रेस, गोरखपुर'के नाम भेज सकते हैं।

कृपालु ग्राहकोंसे क्षमा-प्रार्थना

इस बार 'कल्याण' के द्वारा सुहृद् ग्राहकोंके प्रति अपराध ही बनते जा रहे हैं। यह मईका अङ्क भी बहुत देरसे पहुँच रहा है। इसका कारण पहलेके अङ्कोंका देरसे प्रकाशित होना है। इस बार छपाई देरसे होनेके कारण और सब काम बहुत जल्दी किये गये, इसी जल्दीमें बाइंडिंग विभागके द्वारा कुछ ऐसी भूलें हो गयी हैं, जो बड़ी अवाञ्छनीय हैं और ग्राहकोंको कष्ट देनेवाली हैं। किसी अङ्कमें किसी फार्मके आठ पेज लगे ही नहीं हैं, किसीमें दूने लग गये और किसीमें बदलेमें दूसरा फार्म लग गया। किसीमें अग्निपुराणके पेज गर्गसंहितामें लग गये और गर्गसंहिताके पेज अग्निपुराणमें तथा किसी-किसीमें एक-दो फर्मे बिना लगे ही रह गये। हमारे पास जिनकी शिकायतें आती हैं, उनको पेज डाकसे भेज दिये जाते हैं, परंतु इससे ग्राहकोंको व्यर्थ कठिनाई और अर्थ-व्यय होता है। इसके लिये हमें बड़ा खेद है और यह सब देखकर हमलोगोंको बड़ा संकोच हो रहा है। ग्राहकोंसे हम क्षमा माँगनेके अधिकारी तो नहीं हैं, पर ग्राहक लोग अपनी ओर देखकर हमें क्षमा करेंगे।

—व्यवस्थापक, गीताप्रेस